विनोबाके विचार

[दूसरा भाग]

१९४६

सस्ता साहित्य मंडल

नई दिल्ली

प्रथम बार : १९४६

मूल्य
डेढ़ रुपया

प्रकाशक
मार्तंड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद, लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

प्रकाशककी ओरसे

सन् १९४१ मे जब श्री विनोबा व्यक्तिगत सत्याग्रहके प्रथम सत्याग्रहीके रूपमे दुनियाके सामने आये तब उनकी प्रसिद्धि महाराष्ट्र और गुजरातके बाहर बहुत थोडी थी। तभी उनके विचारोके सग्रहका पहला भाग मडलने प्रकाशित किया था। उसका पहला सस्करण जरा देरसे बिका। पर ज्यो-ज्यो लोग श्री विनोवाजीके मौलिक, उज्ज्वल और अनोखे विचारोसे परिचित होते गये त्यो-त्यो सग्रह की माँग वढती गई। फिर तो पहले भागका दूसरा और तीसरा सस्करण हुआ। और अब तो तीसरा सस्करण भी खतम होनेको है। इधर अर्सेसे दूसरा भाग भी प्रकाशित करनेका आग्रह पाठकोकी ओरसे होने लगा। कागजके नियत्रणमे कुछ सुविधा होते ही यह दूसरा भाग पाठकोकी सेवामे उपस्थित किया जा रहा है। इसमे अधिकतर लेख मराठी 'ग्राम-सेवा-वृत्त' तथा हिन्दी 'सर्वोदय', वर्धासे लिये गये है।

इस सग्रहको प्रकाशित करनेकी अनुमति देनेकी कृपाके लिए वर्धाके 'ग्राम-सेवा-मंडल'के हम वहुत आभारी है।

—मत्री

विषय-सूची

विनोबाके विचार

दूसरा भाग

: १ :

जीवनकी तीन प्रधान बातें

अपने जीवनमे मैं तीन बातोको प्रधान पद देता हू । उनमे पहली है **उद्योग**। अपने देशमे आलस्यका भारी वातावरण है । यह आलस्य बेकारीके कारण आया है । शिक्षितोंका तो उद्योगसे कोई ताल्लुक ही नही रहता । और जहा उद्योग नही वहा सुख कहा ? मेरे मतसे जिस देशसे उद्योग गया उस देशको भारी घुन लगा समझना चाहिए । जो खाता है उसे उद्योग तो करना ही चाहिए, फिर वह उद्योग चाहे जिस तरहका हो । पर बिना उद्योगके बैठना कामकी बात नही । घरोमे उद्योगका वातावरण होना चाहिए । जिस घरमे उद्योगकी तालीम नही है उस घरके लडके जल्दी ही घरका नाश कर देगे । ससार पहले ही दु खमय है । जिसने ससारमे सुख माना है उसके समान भ्रममे पडा और कौन होगा ? रामदासजीने कहा है—"**मूर्खांमांजी परम मूर्ख । जो संसारी मानी सुख ॥**" अर्थात् वह मूर्खोंमे भारी मूर्ख है जो मानता है कि इस ससारमे सुख है । मुझे जो मिला दु खकी कहानी सुनाता ही मिला । मैने तो कभीसे यह समझ लिया है और बहुत विचार और अनुभवके बाद मुझे इसका निश्चय हो गया है । पर ऐसे इस ससारको जरासा सुखमय बनाना हो तो उद्योगके सिवाय दूसरा इलाज नही है, और आज सबके करने लायक और उपयोगी उद्योग सूत-कताईका है । कपडा हरेकको जरूरी है और प्रत्येक बालक, स्त्री, पुरुष सूत कातकर अपना कपडा तैयार कर सकता है । चर्खा हमारा मित्र बन जायगा, शातिदाता हो जायगा—बशर्ते कि हम उसे सम्हाले । दु ख होने या मन उदास होनेपर चर्खेको हाथमे

ले लें तो फौरन मनको आराम मिलता है। इसकी वजह यह है कि मन उद्योगमें लग जाता है और दुःख विसर जाता है। गेटे नामक कविका एक काव्य है, उसमें उसने एक स्त्रीका चित्र खींचा है। वह स्त्री बहुत शोक-पीडित और दुखी थी। अंतमें उसने तकली सम्हाली। कविने दिखाया है कि उसे उस तकलीसे सांत्वना मिली। मैं इसे मानता हूं। स्त्रियोंके लिए तो यह बहुत ही उपयोगी साधन है। उद्योगके विना मनुष्यको कभी खाली नहीं बैठना चाहिए। आलस्यके समान शत्रु नहीं है। किसीको नींद आती हो तो सो जाय, इसपर मैं कुछ नहीं कहूंगा, लेकिन जाग उठनेपर समय आलस्यमें नहीं विताना चाहिए। इस आलस्यकी वजहसे ही हम दरिद्री हो गये हैं, परतंत्र हो गये हैं। इसीलिए हमें उद्योगकी ओर झुकना चाहिए।

दूसरी बात जिसकी मुझे धुन है, वह भक्तिमार्ग है। बचपनसे ही मेरे मनपर यदि कोई संस्कार पडा है तो वह भक्तिमार्गका है। उस समय मुझे मातासे शिक्षा मिली। आगे चलकर आश्रममें दोनों वक्तकी प्रार्थना करनेकी आदत पड गई। इसलिए मेरे अंदर वह खूब होगई। पर भक्तिके माने ढोंग नहीं है। हमें उद्योग छोडकर झूठी भक्ति नहीं करनी है। दिनभर उद्योग करके अंतमें शामको और सुबह भगवानका स्मरण करना चाहिए। दिनभर पाप करके, झूठ बोलकर, लबारी-लफ्फाजी करके प्रार्थना नहीं होती। वरन् सत्कर्म करके दिन सेवामें बिता करके वह सेवा शामको भगवानको अर्पण करनी चाहिए। हमारे हाथों अनजाने हुए पापोंको भगवान क्षमा करता है। पाप बन आवे तो उसके लिए तीव्र पश्चात्ताप होना चाहिए। ऐसोंके पाप ही भगवान् माफ करता है। रोज १५ मिनट ही क्यों न हो, सबको—लडकोंको, स्त्रियोंको—इकट्ठे होकर प्रार्थना करनी चाहिए। जिस दिन प्रार्थना न हो वह दिन व्यर्थ गया समझना चाहिए। मुझे तो ऐसा ही लगता है। सौभाग्यसे मुझे अपने आस-पास भी ऐसी ही मंडली मिल गई है। इससे मैं अपनेको भाग्यवान मानता हूं। अभी मेरे भाईका पत्र आया है। बाबाजी उसके बारेमें लिख रहे हैं कि आजकल वह रायचंदभाईके ग्रंथ पढ रहे हैं। उन्हें उस साधुके सिवाय और कुछ नहीं सूझ रहा है। इधर उसे रोगने घेर रक्खा है, पर उसे उसकी परवा नहीं है। मुझे भाई भी ऐसा मिला है। ऐसे ही मित्र और गुरु मिले। मां भी ऐसी ही थी। ज्ञानदेवने लिखा है कि भगवान् कहते हैं—मैं योगियोंके हृदयमें न मिलूं,

सूर्यमे न मिलू और कही भी न मिलू, तो जहा कीर्तन-ना[illegible] चल[illegible] है वहा तो जरूर ही मिलूगा। लेकिन यह कीर्तन कर्म करने, उद्योग करनेके बाद ही करनेकी चीज है। नही तो वह ढोंग हो जायगा। मुझे इस प्रकारके भक्ति-मार्गकी धुन है।

तीसरी और एक बातकी मुझे धुन है, पर सबके काबूकी वह चीज नही हो सकती। वह चीज है **खूब सीखना और खूब सिखाना**। जिसे जो आता है उसे वह दूसरेको सिखाये और जो सीख सके उसे वह सीखे। कोई बुड्ढा मिल जाय तो उसे सिखाये। भजन सिखाये, गीता पाठ करावे, कुछ-न-कुछ जरूर सिखाये। पाठशालाकी तालीमपर मुझे विश्वास नही है। पाच-छह घटे बच्चोको बिठा रखनेसे उनकी तालीम कभी नही होती। अनेक प्रकारके उद्योग चलने चाहिए और उसमे एक-आध घटा सिखाना काफी है। काममेंसे ही गणित इत्यादि सिखाना चाहिए। क्लास इस तरहके होने चाहिए कि एक पैसा मजदूरी मिली तो उसे पहला दर्जा और उससे ज्यादा मिली तो दूसरा दर्जा। इसी प्रकारसे उन्हे उद्योग सिखाकर उसीमे शिक्षा देनी चाहिए। मेरी मा 'भक्ति-मार्ग-प्रदीप' पढ रही थी। उसे पढना कम आता था, पर एक-एक अक्षर टो-टोकर पढ रही थी। एक दिन एक भजनके पढनेमे उसने १५ मिनट खर्च किये। मै ऊपर बैठा था। नीचे आया और उसे वह भजन सिखा दिया। और पढा कर देखा, पद्रह-बीस मिनटमे ही वह भजन उसे ठीक आगया। उसके बाद रोज मै उसे कुछ देरतक बताता रहता था। उसकी वह पुस्तक पूरी करा दी। इस प्रकार जो-जो सिखाने लायक हो वह सिखाते रहना चाहिए और सीखते भी रहना चाहिए। पर यह सबसे बन आनेकी बात नही है। पर उद्योग और भक्ति तो सबसे बन आ सकती है। उन्हे करना चाहिए और इस उद्योगके सिवाय मुझे तो दूसरा सुखका उपाय दिखाई नही देता है।[1]

---

[1] पवनारमें (२० दिसंबर १९३५को) साय-प्रार्थनाके बाद दिये गए एक प्रवचनकी रिपोर्ट।

: २ :

ऋषि-तर्पण

मनुष्य देव और पशुके बीचो-बीच खडा है। एक तरहसे वह उनके बीचकी सधि है या उन्हे जोडनेवाली कडी है। यह अनुभव पग-पगपर होता है कि अगर वह चाहे तो पशुसे भी पशु बन सकता है। लेकिन, थोडा ही क्यो न हो, ससारको यह भी अनुभव हुआ है कि वह अगर इच्छा करे तो उसके अदर देव बननेकी शक्ति भी मौजूद है। 'नरका नारायण' होना असम्भव नही है। यह बात आजतक अनेक महापुरुष अपनी कृतिसे दुनियाको दिखा चुके है।

आधुनिक समयका इसी तरहका एक उदाहरण लोकमान्य तिलकका है। जो मनुष्य अपने कर्त्तव्यका पालन कर देव-कोटिमे प्रतिष्ठित होते है, उन्हे वेदोने 'कर्मदेव'की पदवी दी है। यह पदवी तिलकने हम सबके देखते-देखते प्राप्त की है। उस प्रसगका स्मरण तो अब भी ताजा है। पर सिर्फ स्मरण काफी नही है। स्मरणके साथ अनुकरण भी होना चाहिए।

आकाशके अवकाशमे अगणित तारे भरे पडे है। दूरबीनके बिना खाली आखोसे उन सबके दर्शन नही हो सकते। दूरबीनसे भी सबके दर्शन तो होते ही नही। लेकिन खाली आखोसे ओझल रहनेवाले कुछ सूक्ष्म तारे उसके द्वारा दर्शन दे देते है। जीवन भी आकाशके समान पोला प्रतीत होता है। लेकिन यह पोला-पोला प्रतीत होनेवाला जीवन अनत ठोस सिद्धातोसे भरा हुआ है। केवल बुद्धिके द्वारा उनमेसे बहुत ही थोडे सिद्धात ग्रहण किये जा सकते है। परतु तपस्याकी दूरबीन लगानेसे कुछ सूक्ष्म सिद्धात प्रगट होने लगते है। इस तरहका कोई नया तत्त्व जो देख पाया हो उसे मत्र-दर्शन हुआ ऐसा कह सकते है। उसीको ऋषि कहते है। ऋषि शब्दका मूल अर्थ है 'मत्रद्रष्टा'—मत्र देखनेवाला। यह कथा प्रसिद्ध है कि विश्वामित्र ऋषिने कठिन तपस्याके द्वारा गायत्री मत्र प्राप्त किया। तिलक महाराज भी वर्तमान युगके उसी तरहके एक ऋषि थे। कारण, उन्होने भी तपस्या की, उन्होने भी मत्र प्राप्त किया। यह कौन-सा मत्र है ? वह है—'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है; और मै

उसे लेकर रहूंगा।' इस मत्रका उच्चार तो हमने खूब किया है, लेकिन केवल उच्चार काफी नही है। उच्चारके साथ-साथ आचार भी चाहिए।

तिलकने यह भी वतला दिया है कि इस आचारकी नीति क्या हो ? उनके लिए यह अनिवार्य भी था। कारण, उनका यह मत था कि केवल सिद्धातका निरूपण कर देना पर्याप्त नही है। उसके साथ-साथ उसका उपयोग कहा और कैसे किया जाना चाहिए आदि वाते भी ब्यौरेवार वताना आवश्यक है। इसलिए केवल उक्त मत्र वतानेसे ही उन्हे सतोष नही हुआ। उस मत्रका भाष्य भी उन्होने स्वय ही लिखा। शकराचार्यने कहा है कि भगवान्‌ने गीताके द्वारा अर्जुनके बहाने सारे जगतको उपदेश दिया। उसी प्रकार तिलकने अपने 'गीता-रहस्य'मे गीताके निमित्तसे उक्त मत्रकी व्याख्या की है। लेकिन यह वात हमारे ध्यानमे नही आई। इसलिए गीता-रहस्यका गीताके श्लोकोसे सामजस्य करनेका व्यर्थका झझट हमने खडा किया और नाहक उलझनमे पड गये। गीता-रहस्य पूर्वोक्त स्वराज्य मत्रका रहस्य है, इस वातको ध्यानमे रखनेसे हम गीता-रहस्यका अर्थ समझ सकेगे। किंतु केवल समझना ही यथेष्ट नही है। समझनेके साथ-साथ हमारा कर्त्तव्य क्या है, यह भी दिखाई देना चाहिए।

२

"स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध हक है" यह हुआ अधिकार वाला अग। इसीमे 'और मै उसे प्राप्त करूगा' यह कर्तव्यात्मक अग जोड दिया गया है। आसुरी सम्पत्ति कहती है—"'हक'की रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।" दैवी सम्पत्ति कहती है—"कर्त्तव्य करते रहना मेरा अधिकार है।" पश्चिमकी सस्कृतिको आसुरी सम्पत्तिकी हविस है। पूर्वकी सस्कृतिको दैवी सम्पत्तिसे प्रेम है। सस्कृत भाषामे तो 'हक'के अर्थका अलग कोई शव्द ही नही पाया जाता। उस अर्थको व्यक्त करनेके लिए हम 'अधिकार' शव्दका प्रयोग करते है। पर अधिकार शव्दका मूल अर्थ 'अपने हिस्सेका काम' या कर्त्तव्य ही है। "तेरा कर्म करनेका अधिकार है, फल-प्राप्तिका नही", इस गीता-वचनमे 'अधिकार' शव्दके अर्थके साथ ही दैवी सम्पत्तिके स्वरूपका भी अच्छा स्पष्टीकरण हो गया है।

उक्त स्वराज्य-मत्रकी बनावट---विशेषत उसके पूर्वार्द्धकी---बेशक ठेठ पश्चिमके ढंगकी है। लेकिन एक तरहसे यह स्वाभाविक ही था। क्योकि साधारण रूपसे इस मत्रका अवतार पश्चिमकी सस्कृतिसे मत्र-मुग्ध लोगोके लिए ही है। और जो वात मत्रपर घटित होती है वही भाष्यके लिए भी है, यह तो स्पष्ट ही है। इसलिए गीता-रहस्यपर पश्चिमके ढगकी गहरी छाप दिखाई देती है। परतु शिष्य कितना भी विद्वान् क्यो न हो, गुरुजनोकी अधीनतामे रहनेसे उसकी विद्वत्ता कुछ दव ही जाती है। या यो कहिए कि भडकीले रगकी चीज भी चादके राजमे फीकी पडे विना नही रहती। उसी प्रकार गीता-रहस्यमे श्रीकृष्णके योग-शास्त्रकी रक्षा करते हुए प्रवचन किया गया है। इसलिए मूलभूत रजोगुणी वृत्ति वहुत ढीली पड गई है। इसलिए मत्रमे पूर्वार्द्धपर जोर दिखाई देते हुए भी भाष्यमे उत्तरार्द्धपर जोर *दिया गया है। माना कि "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध हक है"*, लेकिन आलसी हकको कौन पूछता है? इसलिए पूर्वार्द्धमे प्रतिपादित इस सिद्धातकी अपेक्षा उत्तरार्द्धमे निरूपित "मै उसे लेकर रहूगा", यह सकल्प अधिक महत्त्व रखता है। महत्त्वके प्रश्न ये है---"स्वराज्य आज क्यो नही है? और कल कैसे लेना है"? और तिलकने गीता-रहस्यमे इनके जो जवाव दिये है उनका एक-एक अक्षर सत्य है।

तिलकका कथन सक्षेपमे इस प्रकार है---"यदि स्वराज्य लेना है, तो ज्ञान और कर्मकी जोडी हरगिज नही टूटनी चाहिए।" आजतक समझदारी और कारगुजारीकी एक-दूसरीसे जान-पहचान भी नही थी। एकका मुह पूरवको था तो दूसरीका पश्चिमको। इसलिए स्वराज्यके दर्शन नही हुए। समझदारी कारगुजारीका स्पर्श गवारा नही कर सकती थी। "इस अस्पृश्यताके दूर होते ही स्वराज्य आपके पास ही है"---यह कथन कितना यथार्थ है! आज वूढोका अनुभव और जवानोका उत्साह अलग-अलग हो गये है। स्त्रियोकी समझदारी और पुरुषोकी कारगुजारी विछुड गई है। ब्राह्मणोका शास्त्र और अब्राह्मणोकी कलाके वीच दरार पड गई है। हिंदुओकी नीति-निपुणता और मुसलमानोके जोशमे मेल नही रहा। अग्रेजोंकी सभ्यता और अत्यजोकी सेवाका आपसमे लगाव नही है। भिक्षुकके धर्म और गृहस्थके कर्मका मेल नही रहा है। कहना न होगा कि अगर हम यह अवस्था सुधार सके---ज्ञान और कर्मका समुच्चय साध सके---तो स्वराज्य हमारे हाथमे है।

पुराने इतिहासमे महाराष्ट्रने स्वराज्यका वड़ा भारी ग्रादोलन किया था। उस ग्रादोलनके नेताग्रोंने भी उसी वातपर जोर दिया था, जिसका प्रतिपादन लोकमान्यने गीता-रहस्यमे किया है। 'चित्ती नाम हाती काम' (मनमे राम, हाथमे काम)—यह था उस ग्रादोलनका सिद्धात-वाक्य। गोरोवा (कुम्हार जातिके एक श्रेष्ठ सत) नेताग्रोके गुरु माने जाते थे। इतनी उनके ज्ञानकी ख्याति थी। लेकिन कच्चे घडे पका-पकाकर पक्के वनानेका उनका कारखाना कभी वद नही हुग्रा। सेना नाई भी ग्रादोलनके एक महान् सेनापति थे। तो भी सिरपरका मैल उतारकर दर्पण दिखानेका उनका काम वरावर जारी था। नामदेव (दर्जी) को तो ग्रादोलनका प्राण ही कहना चाहिए। भगवान नामदेवका नाम जितना जपते, उतना भगवानका नाम नामदेव शायद न जपते रहे होगे। लेकिन फिर भी फटे हुए (वस्त्र) सीनेका उनका कुलव्रत ग्रवाधित रूपसे चलता रहा। ग्रौर ऐसा था, इसीलिए उस वक्त महाराष्ट्रको, कुछ दिनके लिए, स्वराज्यके दर्शन हुए।

जव 'ज्ञानी' कहलानेवाले लोग कर्मसे ऊवने लगते है, या कर्म करनेमे शरमाने लगते है, तव राष्ट्रके पतनका ग्रारभ होता है। यह नियम गिवनने रोमके इतिहासमे लिखकर रक्खा है, ग्रौर हमारे यहाके सारे सतो, कवियो ग्रौर ग्राचार्योने यही वात एक स्वरसे कही है। "जो कर्मको छोटा समझ चलते है, वे गवार है, ज्ञानी नही", यह वाक्य तो ज्ञानियोके राजा खुद ज्ञानेश्वर कह गये है। ग्रौर "मै पहलेके सतोसे राह पूछता हुग्रा वोल रहा हू", यह गवाही उन्होने दी है। तिलक भी वही वात कहना चाहते थे। लेकिन उन्हे कुछ ऐसा मालूम हुग्रा कि इस सिद्धातके प्रतिपादनमे वह ग्रकेले पड गये है, उनका कोई सहायक नही है। इसी धारणाके कारण उन्होने खीझ-खीझकर वडे ग्रावेगसे ग्रपने मतका प्रतिपादन किया है। इसके लिए जिम्मेदार कौन है?—गुलाम लोगोका वावला ससार ग्रौर दुर्वल परमार्थ।

३

सच तो यह है कि ज्ञान न तो कर्मसे डरता है, न उसे ग्रपनी शानके खिलाफ समझता है। यह नियम सामान्य ज्ञानपर ही नही, ब्रह्मज्ञानपर भी घटित होता है। मनुष्य जितना ज्ञानमे घुल गया हो, उतना ही वह कर्मके रगमे रग जाता है।

यह सच है कि ज्ञान उदय होते ही कर्मका झझट अस्त हो जाता है। लेकिन कर्मके झझटके अस्त होनेके माने कर्मका ही अस्त होना नही है। उसका अर्थ है कि कर्म सहज हो जाता है। आइए, हम कुछ ज्ञानियोकी ही गवाही ले।

पहली गवाही श्रीकृष्णकी ले। वह कहते है, "मनुष्यके चित्तमे ज्ञानका उदय होते ही 'मै' तत्क्षण अस्त हो जाता है। इसीलिए लोगोंके लिए सहानुभूति पैदा हो जाती है और साहस तथा उत्साहकी किरणोके फूट पडनेके कारण भय और लज्जाका प्रश्न ही नही रह जाता। ऐसी अवस्थामे ज्ञानी दुगुने जोरसे कर्म करने लगता है। भूतदयाके कारण उसका शरीर लोक-सग्रहमे अभ्यस्त हो जाता है।" इस सिलसिलेमे उन्होने महाराज जनकका पुराना उदाहरण दिया है और अपने अनुभवसे उसकी पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त यह टिप्पणी और जोड दी है कि यदि श्रेष्ठ पुरुष कर्म नही करेगे तो साधारण लोगोको पदार्थ-पाठ नही मिलेगा।

दूसरी गवाही आचार्य (शकराचार्य)की। वह कहते है, "ससारके कर्मोके विषयमे यह कहा गया है कि ज्ञानकी अग्निके सुलगते ही कर्म भस्म हो जाते है" परमार्थके कर्मपर वह लागू नही होता। पारमार्थिक कर्मोके आचरणसे ही तो मनुष्यको ज्ञान प्राप्त होता है। यानी परोक्ष रूपसे इस कर्मकी कोखसे ही ज्ञानका जन्म होता है। अत वह कर्म ज्ञानके लिए माताके समान है। ऐसी दशामे अगर इस कर्मपर भी ज्ञान हथियार उठाये तो उसे मातृहत्याका पातक लगेगा। इसलिए साधकावस्था मे शुरू किया गया 'प्रारब्ध' कर्म ज्ञान हो जानेके पश्चात् भी शेष रह जाता है।" इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने यह व्यावहारिक दृष्टात दिया है कि मटका तैयार हो जानेपर भी कुम्हारका चाक कुछ देरतक घूमता रहता है।

तीसरी गवाही समर्थकी। वह कहते है, "साधकको ज्ञानका 'रहस्य' प्राप्त हो जाता है तो भी वह फिर पूर्ववत् ही यत्न करता रहता है क्योंकि इसका क्या ठिकाना है कि इस रहस्य को भी जग न खा जाये ? ऐसा सोच कर वह अपने ज्ञानको सत्कर्मसे माजता रहता है। इसलिए उसको जग लगनेका डर नही रहता। खूटेको हिला-हिलाकर खूब मजबूत कर देनेके लिए ज्ञानी सावधान वृत्तिसे अपनी उपासना जारी रखता है और आखिरतक सत्कर्म करता रहता है।"

चौथी गवाही तुकोबाकी। वह कहते है, "कोई आदमी पहले गावका ज्योतिषी था। हाथीने उसके गलेमें माला पहना दी। इससे बेचारा राजा हो गया।

फिर भी उसका पत्रा (पचाग) नही छूटता था।" ज्ञानी मनुष्यकी हालत भी इस राजाके जैसी ही होती है। उसकी भी साधकावस्थामे पडी हुई आदत कभी भी कैसे छूटे ? अपने कथनकी पुष्टिके लिए उन्होने अपना ही अनुभव पेश किया है। "मै केवल 'तुका' था। वादमे सतोकी सगतिसे भजनका चस्का लग गया। आज मै 'राम' हो गया हू, लेकिन मेरा भजन वद नही होता। मूल स्वभाव नष्ट नही होता, तो इसे मै क्या करू ?"

४

खैर। वडे-वडे आदमियोके फेरमे पडकर हमने वहुत वडी-वडी बाते की। ये वाते हमारे अधिकारके वाहरकी है, वहुतोकी तो समझमे भी नही आयेगी। लेकिन कोई हर्ज नही। जो आज समझमे नही आती, कल आने लगेगी। सतोकी कृपासे हमारा अधिकार भी धीरे-धीरे वढेगा। और फिर, ऐसी वाते जब-तव कानोंमे पडा करे तो कोई नुकसान नही है। हैसियत न होनेपर भी लोग साहूकारसे कर्ज लेकर त्यौहार तो मनाते ही है। उसी प्रकार लोकमान्यकी पुण्यतिथिके दिन हमने भी सतोके चरणोमे भीख मागकर चार टुकडे जुटा लिये तो इसमे कोई गलती नही की। ऐसा न करे तो गरीवोको पकवानके दो कौर भी खानेको कव मिलेगे ? इसके सिवा, हमने ऋण साहूकारसे नही लिया है, सतोसे लिया है। इसलिए हम सुरक्षित है। सत हमे तवाह कर देगे, इसका डर तो है ही नही। अगर सवाल है तो इतना ही कि क्या हम यह पकवान पचा सकेगे ?

('महाराष्ट्र धर्म' १६ जुलाई, १६२४)

: ३ :

निवृत्त-शिक्षण

फ्रासकी राज्य-क्रातिके इतिहासमे रूसो और वॉल्टेर नामक ग्रथकारोके नाम वहुत प्रसिद्ध है। इन ग्रथकारोकी भापा, विचारशैली तथा लेखन-पद्धति

तेजस्वी, जीवत और क्रातिकारक है। लोगोमे जितनी धाक इनकी लेखनीकी थी, उतनी बडे-बडे बलवान राजाओके शस्त्रबलकी भी नही थी। फ्रासकी राज्य-क्राति इनके लेखोका मूर्त परिणाम थी। इन दोनो लेखकोमेसे रूसो विशेष भावना-प्रधान था। लेख लिखनेके लिए उसने कभी भाषा-शास्त्रका अध्ययन नही किया था। उसके विचार उसके हृदयमे समाते नही थे, बाहर निकलनेके लिए छटपटाते और धक्के देते थे। ज्वालामुखी पर्वतके जलते हुए रसकी भांति, बल्कि उससे भी बढकर, दाहक होते थे और उसकी इच्छाके विरुद्ध—'अनिच्छन्नपि'—बाहर निकलते थे। उसके लेखो द्वारा उसका हृदय बोलता था। और इसीलिए उसके लेख चाहे बौद्धिक या तार्किक कसौटीपर खरे भले ही न उतरे, तो भी परिणामत. वे धधकती आगके समान होते थे, यह इतिहासको भी मानना पडा है। 'मृतजीवन-की अपेक्षा जीवित मृत्यु श्रेयस्कर है'—उसके लेखोका यही एक सूत्र था। ऐसे प्रभावशाली, प्रतिभावान लेखकके शिक्षण-विषयक मतोका मननपूर्वक विचार करना हमारा कर्तव्य है।

रूसोके मतानुसार शिक्षणके तीन विभाग करने चाहिए—(१) निसर्ग-शिक्षण; (२) व्यक्ति-शिक्षण और (३) व्यवहार-शिक्षण।

शरीरके प्रत्येक अवयवका सपूर्ण और व्यवस्थित विकास होना, इद्रियोका चपल, फुर्तीली, कार्यपटु बनना, विभिन्न मनोवृत्तियोका सर्वांगीण विकास होना; स्मृति, प्रज्ञा, मेधा, धृति, तर्क इत्यादि बौद्धिक शक्तियोका प्रगल्भ और प्रखर बनना—इन सबका समावेश उसके मतसे निसर्ग-शिक्षणमे होता है। दूसरे शब्दोंमे, मनुष्यकी भीतरी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक वृद्धि—आत्म-विकास—निसर्ग-शिक्षण है। मनुष्यको बाह्य परिस्थितिमेंसे जो ज्ञान प्राप्त होता है, व्यवहारमे जो अनुभव होता है, उस सब पदार्थ-विज्ञानको या भौतिक जानकारीको उसने व्यवहार-शिक्षण नाम दिया है। और निसर्ग-शिक्षणसे होनेवाले आत्म-विकासका व्यवहार-ज्ञानकी दृष्टिसे बाह्य जगत्मे कैसे उपयोग किया जाय, इस सबधमे दूसरे मनुष्योके प्रयत्नसे जो वाचिक, साम्प्रदायिक अथवा शालीन (पाठशालामें मिलनेवाला) शिक्षण मिलता है, उसे उसने व्यक्ति-शिक्षण सज्ञा दी है। अर्थात् व्यक्ति-शिक्षण, उसकी दृष्टिसे व्यवहार-शिक्षण और निसर्ग-शिक्षणको जोडनेवाली सधि है। वस्तुत यह बात कोई विशेष महत्त्व नही रखती कि रूसोने शिक्षणके कितने विभाग किये है। अमुक विषयके अमुक

विभाग करने चाहिए, ऐसा कोई नियम नही है । यह सब सुविधाका सवाल है । इसलिए दृष्टि-भेदके कारण वर्गीकरणमे अतर होना स्वाभाविक है । रूसोके किये हुए तीन विभाग आवश्यक ही है, ऐसी कोई वात नही है । क्योकि ऐसा कहा जा सकता है कि मनुष्यको, क्या व्यक्ति-शिक्षण और क्या व्यवहार-शिक्षण, बाहरसे मिलता है । केवल निसर्ग-शिक्षण ही भीतरसे मिलता है । इस दृष्टिसे अगर हम अत -शिक्षण और बाह्य-शिक्षण ये दो ही विभाग करे, तो क्या हर्ज है ?

परतु इससे भी आगे वढकर यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य-शिक्षण केवल अभावात्मक क्रिया है और अत -शिक्षण ही भावरूप है । इसलिए शिक्षणका वही एकमात्र यथार्थ अथवा तात्त्विक विभाग है । हमने जिसे 'बाह्य-शिक्षण' कहा है, वह केवल मनुष्योसे अथवा पाठशालामे ही नही मिलता । वह शिक्षण इस अनत विश्वके प्रत्येक पदार्थसे निरतर मिलता ही रहता है । उसमे कभी विराम नही होता । जैसा कि शेक्सपीयरने कहा है, "बहते हुए झरनोमे प्रासादिक ग्रथ सचित है, पत्थरोमे दर्शन छिपे हुए है और यच्चयावत् पदार्थोमे शिक्षाके सारे तत्त्व सन्निहित है ।" वृक्ष, वनस्पति, फूल, नदिया, पर्वत, आकाश, तारे—सभी मनुष्यको अपने-अपने ढगसे शिक्षा देते है । नैयायिकोके अणुसे लेकर साख्योके महत्तत्त्वतक, भूमिति (रेखागणित)के बिदुसे लेकर भूगोलके सिधुतक, या छुटपन-की भाषामे कहे, तो 'रामजीकी चोटीसे लेकर तुलसीके मूल'तक सारे छोटे-बडे पदार्थ मनुष्यके गुरु है । विचक्षण विज्ञान-वेत्ताओके दूर-चक्षु (दूरबीन)से, व्यवहार-विशारदोके चर्मचक्षुसे, कल्पना-कुशल कवियोके दिव्य-चक्षुसे या तार्किक तत्त्ववेत्ताओके ज्ञान-चक्षुसे जो-जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते होगे—अथवा न भी होते होगे—उन सब पदार्थोसे हमे नित्यपाठ मिल रहे है । सृष्टि, परमेश्वर द्वारा हमारे अध्ययनके लिए हमारे सामने खोलकर रक्खा हुआ एक शाश्वत, दिव्य, आश्चर्यमय, परम पवित्र ग्रथ है । उसके सामने वेद व्यर्थ है, कुरान बेकार है, बाइबिल निर्बल है । लेकिन यह ग्रथ-गगा चाहे कितनी ही गभीर क्यो न हो, मनुष्य तो अपने लोटेसे ही उसका पानी लेगा । इसलिए इस विश्वमेंसे 'बाह्यत' हमे वही और उतना ही शिक्षण मिलेगा, जिसके या जितनेके बीज हमारे 'अदर' होगे । इसका अनुभव हर एकको है । हम इतने विषय सीखते है, इतने ग्रथ पढते है, इतने विचार सुनते है, इतनी चीजे देखते है, उनमेंसे कितनी हमे याद रहती है ? साराश, बाह्य जगतसे हम जो कुछ सीखते है, वह सब भुला देते है । उसकी

जगह केवल सस्कार वाकी रह जाते है। वल्कि शिक्षणका अर्थ जानकारी नष्ट होनेपर वचे हुए सस्कार ही है। इसका कारण ऊपर दर्शाया गया है। जो हमारे 'अदर' नही है, वह वाहरसे आना असभव है। वाह्य-शिक्षण कोई स्वतत्र या तात्त्विक पदार्थ नही है। वह केवल एक अभावात्मक क्रिया है।

अव ऐसे प्रसगमे हमेशा एक दुहरी समस्या पेश होती है। यदि वाह्य-शिक्षणको मिथ्या माने, तो सस्कार वननेके लिए किसी-न-किसी वाह्य-निमित्त या आलवन अथवा आधारकी आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत अगर वाह्य-शिक्षणको सत्य या भाव-रूप माने, तो ऊपर कहे अनुसार उसका अतर-विकासके अनुकूल अश ही, और वह भी सस्कार-रूपमे, शेष रहता है। अर्थात् उभय पक्षमे विप्रतिपत्ति (डाईलेमा) उपस्थित होती है। ऐसी अवस्थामे इन दोनो शिक्षणोका परस्पर-सवध क्या माना जाय ? परतु यह विवाद नया नही है। इसलिए उसका निर्णय भी नया नही है। सभी शास्त्रोमे इस प्रकारके विवाद उपस्थित होते है और सर्वत्र उनका एक ही निर्णय होता है। उदाहरणके लिए, यह वेदाती विवाद कि 'सुखका वाह्य पदार्थोसे क्या सवध है', लीजिए। वहा भी वही गुत्थी है। अगर आप कहे कि वाह्य पदार्थोमे सुख है, तो उनसे सर्वदा सुख ही मिलना चाहिए; लेकिन ऐसा होता नही है। यदि मनस्थिति विगडी हुई हो, तो दूसरे अवसरोपर सुखकारक प्रतीत होनेवाले पदार्थ भी सुख नही दे सकते। इसके विपरीत यदि कहे कि वाह्य पदार्थोमे सुख नही है, सुख एक मानसिक भावना है, तो ऐसा भी अनुभव सदा नही होता। जैसा कि शेक्सपीयरने कहा है, "यदि इच्छा ही घोडा वन सकती, तो प्रत्येक मनुष्य घुडसवार हो जाता।" लेकिन ऐसा हो नही सकता, यह निष्ठुर सत्य है। तव इस समस्याका समाधान कैसे हो ?

इसी तरहका दूसरा दृष्टात न्याय-शास्त्रसे लीजिए। प्रश्न यह है कि 'मिट्टीका मटकेसे क्या सवध है' ? अगर आप कहे कि मिट्टी ही मटका है, तो मिट्टीमे पानी भरकर दिखाइए। मिट्टी अलग और मटका अलग कहे, तो हमारी मिट्टी हमे दे दीजिए, अपना घडा लेते जाइए। ऐसी हालतमे इन दोनोका क्या सवध माना जाय ? यदि हम शुद्ध हिंदीमे कहे कि हम वतला नही सकते कि इस सवधका क्या स्वरूप है, तो हमारा अज्ञान दीखता है। इसलिए उस सवधको 'अनिर्वचनीय सवध' यह भव्य और प्रशस्त सस्कृत नाम दिया गया है।

परतु इस सबधके अनिर्वचनीय होते हुए भी एक पक्षमे जिस प्रकार **'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'**—'मिट्टी तात्त्विक और मटका मिथ्या'—ऐसा तारतम्यसे निश्चय किया जा सकता है उसी प्रकार दूसरे पक्षमे अत -शिक्षण भावरूप और बाह्य-शिक्षण अभावरूप कार्य है, ऐसा कहा जा सकता है।

किंतु ऐसा कहते ही एक दूसरा ही मूलोत्पाटी प्रश्न उपस्थित होता है। हमने शिक्षाके दो विभाग किये है। उनमेंसे अत -शिक्षण अथवा आत्म-विकास भावरूप होते हुए भी वह हर एक व्यक्तिके अदर-ही-अदर होता रहता है। उसके लिए हम कुछ भी कर नही सकते। उसका कोई पाठ्यक्रम नही बनाया जा सकता। और यदि बनाया भी जाय, तो उसपर अमल नही किया जा सकता। बाह्य-शिक्षण सामान्यत और व्यक्ति-शिक्षण विशेषत अभावरूप करार दिया गया है। "ऐसी अवस्थामे **'न हि शशक-विषाणं कोऽपि कस्मै ददाति'** इस न्यायके अनुसार शिक्षण-विषयक आदोलन हमारी मूर्खताके प्रदर्शन ही है क्या ?" यह कह देना आवश्यक है कि यह आक्षेप आपातत जैसा लाजवाब या मुहतोड मालूम होता है, वस्तुत वैसा नही है। कारण, जब हम यह कहते है कि (बाह्य) शिक्षण अभावात्मक कार्य (नेगेटिव फक्शन) है, तब हम यह तो नही कहते कि वह 'कार्य' ही नही है। वह कार्य है, वह उपयोगी कार्य है, परतु वह अभावात्मक कार्य है, इतना ही हमे कहना होता है। निवेदन इतना ही है कि शिक्षणका कार्य कोई स्वतत्र तत्त्व उत्पन्न करना नही है। सुप्त तत्वको जाग्रत करना है। इसलिए शिक्षणका उपयोग लोग जिस अर्थमे समझते है, उस अर्थमे नही है। लेकिन इतनेसे शिक्षण निरुपयोगी नही हो जाता। उग्र सुधारकोके 'विधवा-विवाहोत्तेजन'को समाज-शिक्षक कर्वेका 'विधवा-विवाह-प्रतिबधनिवारण' भले ही निरुपयोगी मालूम होता हो, परतु वास्तवमे वह निरुपयोगी नही है। बल्कि वही उपयोगी है, यह मानना पडेगा। साराश, शिक्षण उत्तेजक दवा नही है, वह प्रतिबध-निवारक उपाय है। रस्किनने शिल्पकलाकी भी ऐसी ही व्याख्या की है। शिल्पज्ञ पत्थर या मिट्टीमेंसे मूर्ति उत्पन्न नही करता। वह तो उसमे है ही। सिर्फ छिपी हुई है। उसे प्रकट करना शिल्पीका काम है। इसपरसे स्पष्ट है कि शिक्षण अभावात्मक होते हुए भी उपयोगी है। और चाहे प्रतिबध-निवारणके अर्थमे ही क्यो न हो, उसमे थोडी-सी भावात्मकता है ही। इसी अर्थको ध्यानमे रखकर ऊपर 'तारतम्यसे (अपेक्षाकृत) अभावात्मक ऐसी सावधानीकी भाषाका प्रयोग किया

है। शिक्षण आत्मविकासकी तुलनामे अभावात्मक है। अर्थात् उसका 'भाव' बहुत थोड़ा है।

लेकिन हमने शिक्षा का भाव बेहद बढा दिया है। इसलिए हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अत्यत अस्वाभाविक, विपरीत और दुराग्रही हो गई है। जहा किसी लडकेकी स्मरण-शक्ति जरा तीव्र दिखाई दी कि उसे और ज्यादा कठ करनेको उत्साहित किया जाता है। लडकेका पिता अधीर हो उठता है। लडकेके दिमागमे कितना ठूसू और कितना नही, इसका उसे कोई विवेक नही रहता। पाठशालाकी शिक्षण-पद्धतिमे भी यही नीति निर्धारित की जाती है। इसके विपरीत यदि विद्यार्थी मद हो, तो उसकी अवश्य उपेक्षा की जायगी। होशियार माने जानेवाले लडके जैसे-तैसे कॉलेजतक पहुचते है और फिर पिछड जाते है। और यदि कॉलेजमे न पिछडे, तो आगे चलकर व्यवहारमे निकम्मे साबित होते है। इसका कारण यह है कि उनकी कोमल बुद्धिपर बेहिसाब बोझ लादा जाता है। यदि घोडा तेज है और व्यवस्थितरूपसे चलता है, तो उसे छेड़ना नही चाहिए। लेकिन इसके बदले 'घोडा तेज है न ? लगाओ चाबुक', ऐसी नीतिसे क्या होगा ? घोडा भडक जायगा। खुद तो गड्ढेमे गिरेगा ही अपने मालिकको भी गिरायेगा। यह बेवकूफीकी और जगली नीति कम-से-कम राष्ट्रीय शालाओमे तो हरगिज नही बरतनी चाहिए।

सच बात तो यह है कि जहा विद्यार्थीको यह भान हुआ कि वह शिक्षण ले रहा है, वहा शिक्षणका सारा आनद ही लुप्त हो जाता है। छोटे लडकोसे जो यह कहा जाता है कि खेल ही उत्तम व्यायाम है, उसका भी रहस्य यही है। खेल मे व्यायाम होता है, लेकिन 'मै व्यायाम करता हूं', यह बोध नही होता। खेलते समय आसपासका जगत नष्ट हो जाता है। लडके तद्रूप होकर अद्वैतका अनुभव करते है। देह-भान लुप्त हो जाता है। प्यास, भूख, थकान, चोट, किसी वेदनाकी भी प्रतीति नही होती। साराश, खेल आनंद होता है। वह व्यायाम-रूप कर्तव्य नही होता। यही नियम शिक्षणपर भी लागू करना चाहिए। 'शिक्षण एक कर्तव्य है', इस कृत्रिम भावनाके बदले 'शिक्षण आनद है,' यह नैसर्गिक और तेजस्वी भावना उत्पन्न होनी चाहिए। लेकिन क्या हमारे लडको में ऐसी भावना पाई जाती है ? 'शिक्षण आनंद है' इस भावनाकी बात तो छोड दीजिए; किंतु 'शिक्षण कर्तव्य है', यह भावना भी बहुत कम पाई

जाती है। 'शिक्षण दड है', यह गुलामीकी भावना ही आज विद्यार्थियोमे प्रचलित है। बालकने जरा सजीवताकी चमक या स्वतत्र-वृत्तिके लक्षण दिखाये नही, कि तुरत घरवाले कहने लगे कि अब इसे स्कूलमे बेडना चाहिए। तो पाठशालाका अर्थ क्या हुआ ?—बेडनेकी जगह ! इसलिए इस पवित्र कार्यमे हाथ बटानेवाले शिक्षक इस जेलखानेके छोटे-बडे कर्मचारी है !

लेकिन इसमे दोष किसका है ? शिक्षाके विषयमे हमारे जो विचार है और उनके अनुसार हमने जिस पद्धतिका—अथवा पद्धतिके अभावका—अवलबन लिया है, उसका यह दोष है। विद्यार्थियोका शिक्षण इस प्रकार होना चाहिए कि उन्हे उसका बोध ही न हो, यानी स्वाभाविकरूपसे होना चाहिए। बाल्यावस्थामे बालक जिस सहजभावसे मातृभाषा सीखता है, उसी सहजभावसे उसका अगला शिक्षण भी होना चाहिए। लडका व्याकरण क्या चीज है, यह भले ही न जानता हो, लेकिन वह 'मा आया' नही कहता। कारण, वह व्याकरण समझता है। वह 'व्याकरण' शब्द भले न जानता हो या उसे व्याकरणकी परिभाषा भले ही न मालूम हो, परतु व्याकरणका मुख्य कार्य तो हो चुका है। साध्य और साधनको उलट-पुलट नही करना चाहिए। साध्यके लिए साधन होते है, साधनके लिए साध्य नही। यही बात तर्कशास्त्रपर भी लागू होती है। गौतमके न्यायसूत्र अथवा एरिस्टाटलका तर्कशास्त्र पढनेका क्या अभिप्राय है ? यही कि हम व्यवस्थित विचार कर सके, अचूक अनुमान कर सके। दीया जब मद होने लगता है, तब छोटा लडका भी अदाज करता है कि शायद उसमे तेल नही है। उसके दिमागमे सारा तर्क होता है। हा, इतना अवश्य है कि वह 'पचावयवी वाक्य' या 'सिलॉजिज्म' नही बना सकता। विद्यार्थीके भीतर तर्क-शक्ति स्वभावत होती है। शिक्षणका कार्य केवल ऐसे अवसर उपस्थित करना है, जिससे उस तर्क-शक्तिको समय-समयपर खाद्य मिलता रहे। सारे शास्त्र, सब कलाए, तमाम सद्गुण, मनुष्यमे बीजत स्वयभू है। हम उस बीजको देख नही सकते। लेकिन वह दिखाई नही देता, इसलिए उसका अभाव तो नही है ?

परतु कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि रूसोको यह मत पसद नही है। "मनुष्य स्वभावत दुर्बल है, अनीतिमान है, शिक्षणसे उसे बलवान या नीतिमान बनाना है। स्वभावसे वह पशु है, उसे मनुष्य बनाना है। **'पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भव'** यह उसका पूर्व-रूप है। उसका उत्तर-रूप शिक्षणसे

सपन्न होनेवाला है"---इस आशयकी भाषाका प्रयोग वह कभी-कभी करता है। इसके विरुद्ध आशयके वाक्य भी उसके ग्रथोमे पाये जाते है। इसलिए उसका अमुक ही मत है, यह कहना कठिन है। तथापि उसका ऊपर लिखे अनुसार मत हो, तो भी उसमे उसका विशेष दोष नही है, वल्कि उसके जमाने की परिस्थिति का दोष है, ऐसा कहा जा सकता है। स्वतत्र बुद्धि के लोग भी एक हदतक, यदि परिस्थितिके गुलाम नही होते, तो कम-से-कम परिस्थिति द्वारा गढे जाते है। और फिर रूसोके जमानेके फ्रासकी स्थिति कैसी भीषण थी! भारतमे आज जिस प्रकार इकतीस करोड जतुओका भयानक दृश्य नजर आ रहा है, उसी तरहकी हालत उस वक्तके फ्रासकी थी। इसलिए यदि रूसो-जैसे ज्वालामुखी, ज्वलत और अतिशय उत्कट मनुष्यका भावनामय एव विकारी हृदय मनुष्य-जातिके प्रति घृणासे परिपूर्ण हो गया हो, तो वह क्षम्य है। गुलामी देखते ही वह खीझ जाता था। उसका खून खौलने लगता था। वह आपेसे बाहर हो जाता था। ऐसी स्थितिमे मनुष्य-जातिके प्रति घृणाके कारण यदि उसका यह मत हो गया हो कि मनुष्य एक जानवर है और उसमे शिक्षणसे थोडी-बहुत इन्सानियत आती है, तो हम उसका तात्पर्य समझ सकते है। लेकिन रूसोके साथ हमे कितनी ही सहानुभूति क्यो न हो, तो भी इस प्रकारका मत---चाहे किसीने किसी भी परिस्थितिमे प्रतिपादन किया हो---अनुचित है, इसमे सदेह नही। मनुष्य स्वभावत दुष्ट है, ऐसा माननेमे निखिल मनुष्य-जातिका अपमान है और निराशावादकी परमावधि है। अगर मनुष्य स्वभावसे ही दुष्ट हो, तो शिक्षणकी कोई आशा नही हो सकती। वस्तुसे उसका स्वभाव सदाके लिए पृथक करना तर्क-दृष्टिसे असभव है। इसलिए यदि मनुष्य-स्वभाव अपने असली रूपमे दुष्ट ही हो, तो उसे सुधारनेके सारे प्रयत्न अकारथ जायगे और निराशावादका तथा उसके साथ-साथ पशुवृत्तिका साम्राज्य शुरू हो जायगा। क्योकि आशा नष्ट होते ही दडका राज्य स्थापित हो जाता है। कुछ लोग जोशमे आकर कहा करते है कि ब्रिटिश सरकारपरसे हमारा विश्वास सदाके लिए उठ गया। सुदैवसे यह सिर्फ जोशकी भाषा होती है। परन्तु, यदि यह सच होता, तो किसी भी शातिमय आदोलनका अर्थ निराशाका कर्म-योग ही होता। स्वावलबनकी दृष्टिसे यह कहना ठीक है कि हमे सरकारके भरोसे नही रहना चाहिए। लेकिन यदि उसका यह अर्थ हो कि हमें यह निश्चय हो गया है कि

अंग्रेजोके हृदय नही है, उनकी कभी उन्नति ही नही हो सकती, तब तो नि शस्त्र आदोलन केवल एक लाचारीका चारा हो जाता है। क्या सत्याग्रहका और क्या शिक्षणका मुख्य आधार ही यह मूलभूत कल्पना है कि प्रत्येक मनुष्यके आत्मा है। जिस प्रकार शत्रुके आत्मा नही है, यह सिद्ध होते ही सत्याग्रह बेकार हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य स्वभावत दुष्ट है, यह साबित होते ही शिक्षणकी प्राय सारी आशा ही नष्ट हो जाती है। फिर तो 'छडी पडे छम-छम, विद्या आवे झम-झम' शिक्षाका एकमात्र सूत्र होगा। इसलिए विद्वान् तत्त्वज्ञो और शिक्षण-वेत्ताओने भी यह शास्त्रीय सिद्धात मान लिया है कि मनुष्यके मनमे पूर्णताके सारे तत्त्व बीज-रूपमे स्वत -सिद्ध है।

यह शास्त्रीय सिद्धात स्वीकार करनेपर जिस प्रकार आजकी जिद्दी शिक्षा-पद्धति गलत साबित होती है, उसी प्रकार शिक्षाका कार्य नागरिक बनाना है, इस चालके आत्म-सभावित तत्त्व भी निराधार सिद्ध होते है। हम कुछ-न-कुछ शिक्षण देते है, लडकोके दिलोपर किसी-न-किसी बातका असर होता है और उस परिणाम का तथा हमारे शिक्षणका समीकरण करके 'अस्माकमेवाय विजय, अस्माकमेवाय महिमा' ऐसा कहकर हम नाचने लगते है। यह मानवीय मूर्खताकी महिमा है। ऊपर कहा जा चुका है कि शिक्षणकी रचना ऐसी होनी चाहिए जिससे कि विद्यार्थीको यह मालूम भी न पडे कि वह शिक्षण ले रहा है। लेकिन इसके लिए साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि शिक्षकके दिलमे ऐसी धुधली और मद भावना भी न हो कि वह विद्यार्थियोको शिक्षण दे रहा है। जबतक गुरु अनन्य और सहज-शिक्षक नही होगा, तबतक विद्यार्थियोको सहज-शिक्षण मिलना असभव है। जब कहा जाता है कि 'हम तो फ्रोबेल, पैस्टलॉजी या मौटेसरीकी पद्धतिसे शिक्षण देते है', तब साफ समझ लेना चाहिए कि यह केवल वाचिक श्रम है, यह शब्द-शिक्षण है, यह किसी पद्धतिकी अर्थ-शून्य नकल है, यह शव है, इसमे जान नही है। शिक्षण कोई बीजगणित का सूत्र (फॉर्म्यूला) थोडे ही है कि सूत्र लगाते ही फौरन उत्तर आ जाय। जो दिया जाता है, वह शिक्षण ही नही है और न शिक्षण देनेकी पद्धति, पद्धति है। जो अदर है वह सहजभावसे प्रकट होता है—इस तरहसे जो प्रकट होता है, वही शिक्षण है। यही सहज-शिक्षण—'सदोषमपि'—सदोष भले ही हो, तो भी, अच्छा है। परतु किसी विशिष्ट पद्धतिके गुलामोके द्वारा प्राप्त होनेवाला व्यवस्थित अज्ञान हमे नही चाहिए।

आखिर शास्त्र क्या चीज है ? 'शास्त्र' बराबर है 'व्यवस्थित अज्ञान'के। इसके सिवा इन शास्त्रोका कोई अर्थ भी है ? शिक्षण-शास्त्रवेत्ता स्पेसर शिक्षण-शास्त्रपर लिखते हुए कहता है कि शिक्षणसे अलौकिक व्यक्ति बनते नही है। ऐसे शास्त्रोकी शास्त्र-दृष्टिसे क्या कीमत हो सकती है ? 'एतत् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत' जैसी शास्त्रकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए। जो शास्त्र ऐसी प्रतिज्ञा नही कर सकता, वह शास्त्र लोगोकी आखोमे धूल झोकनेका व्यवस्थित प्रयास मात्र है। शेक्सपीयरने कौन-से नाट्य-शास्त्रका अध्ययन किया था ? अलकार-शास्त्रके नियम रटकर क्या कभी कोई प्रतिभावान कवि—या काव्य-रसिक भी—बना है ? शास्त्र-पद्धति, इन शब्दोका शब्द-सृष्टिसे बाहर कुछ अर्थ ही नही होता। यह महज भ्रम है। 'यास्तेषां स्वैर कथास्ता एव भवंति शास्त्राणि'—'महापुरुषोकी स्वैर-कथाए ही शास्त्र है'—भर्तृहरिका यह एक मार्मिक वचन है। यहापर भी वही लागू होता है। 'जो किसी भी पद्धतिके विना सुव्यवस्थित होता है, जिसे कोई भी गुरु दे नही सकता, परतु जो दिया जाता है'—ऐसा है शिक्षणका अनिर्वचनीय स्वरूप। इसलिए दिव्यदृष्टिवाले महात्माओने कहा कि शिक्षण कैसे दिया जाता है, हम नही जानते। 'न विजानीमः' (केनोपनिषत्)। शिक्षण-पद्धति, पाठ्यक्रम, समय-पत्रक, ये सब अर्थ-शून्य है। इनमे सिवा आत्म-वचनाके और कुछ नही धरा है। जीनेकी क्रियामेसे ही शिक्षण मिलना चाहिए। शिक्षण जब जीनेकी क्रियासे भिन्न एक स्वतत्र क्रिया बनती है, उस वक्त शरीरमे विजातीय द्रव्य घुसनेसे जैसा परिणाम होता है, वैसा ही जहरीला और रोगोत्पादक परिणाम हमारे मनपर होता है। कर्मकी कसरतके विना ज्ञान की भूख नही लगती। और वैसी हालतमे जो ज्ञान विजातीय द्रव्यके रूपमे अदर घुसता है, उसे हजम करनेकी ताकत पचनेन्द्रियोमे नही होती। सिर्फ भेजेमे किताबे ठूस देनेसे अगर मनुष्य ज्ञानी बन जाता, तो पुस्तकालयकी आलमारिया ज्ञानी मानी जाती। लालचसे खाये हुए ज्ञानका अपचन होता है और बौद्धिक पेचिश हो जाती है। और अतमे मनुष्यकी नैतिक मृत्यु होती है।

जो नियम विद्यार्थियोंके शिक्षणपर लागू है, वही लोक-शिक्षण या लोक-सग्रहपर भी घटित होता है। महापुरुषोकी दृष्टिमे सारा समाज एक बहुत बड़ा शिशु है। "भीष्माचार्य आमरण ब्रह्मचारी रहे। किंतु विना पुत्रके तो सद्गति

नही होती, ऐसा सुनते हैं। तव भीष्माचार्यको सद्गति कैसे मिली होगी ?" ऐसी बेहूदी शका पेश होनेपर उसका समाधान इस प्रकार किया गया कि भीष्माचार्य सारे समाजके लिए पिताके समान होनेके कारण हम सब उनके पुत्र ही हैं। इसलिए लोक-सग्रहका प्रश्न महापुरुषोकी दृष्टिसे बालकोके शिक्षणका ही प्रश्न है। परतु शिक्षणके प्रश्नकी तरह लोक-सग्रहका भी नाहक हौवा बनाकर ज्ञानी पुरुषकी यह एक भारी जिम्मेवारी है, ऐसा कहनेका रिवाज चल पडा है। लोक-सग्रह किसी व्यक्तिके लिए रुका नही है। लोक-सग्रह मुझपर निर्भर है, ऐसा मानना गोया टिटहरीका यह मानकर कि मेरे आधारपर आकाश स्थित है, खुदको उलटा टाग लेनेके बराबर है। 'कर्ताहम्' 'मै कर्ता हू', यह अज्ञान-का लक्षण है, ज्ञानका नही। यहातक कि जहा 'कर्ताहम्' यह भावना जाग्रत है, वहा यथार्थ कर्तृत्व ही नही रह सकेगा। शिक्षण जिस प्रकार अभावात्मक या प्रतिबध-निवारणात्मक कार्य है, उसी प्रकार लोक-सग्रह भी है। इसीलिए श्रीमच्छकराचार्यने **'लोकस्य उन्मार्ग-प्रवृत्ति-निवारण लोक-संग्रहः'** ऐसा लोक-सग्रहका निवर्तक स्वरूप दिखलाया है।

जिस प्रकार सच्चा शिक्षक शिक्षा नही देता, उससे शिक्षण मिलता है, उसी प्रकार ज्ञानी पु ष भी लोक-सग्रह करेगा नही, उसके द्वारा लोक-सग्रह होगा। सूर्य प्रकाश देता नही है, उससे स्वाभाविकरूपसे प्रकाश मिलता है। इसी अभावात्मक कर्मयोगको गीताने सहजकर्म कहा है और मनुने इसी सहजकर्मको 'निवृत्तकर्म' यह सुदर सज्ञा दी है। 'निवृत्त-शिक्षण' यह सज्ञा भी उसी ढगपर गढी गई है। जो ऐसा निवृत्त-शिक्षण देते है, वे आचार्य ही समाजके गुरु है। वे ही समाजके पिता है। दूसरे 'भाडेके गुरु' गुरु नही और 'जन्म-हेतु-पिता' पिता नही है। ऐसे गुरुओके चरणोके निकट बैठकर जिन्होने शिक्षा पाई है, वे ही मातृमान, पितृमान, आचार्यवान कहलानेके गौरवके पात्र है। अन्य सब अनाथ बालक है। सब अशिक्षित है। ऐसा उदार शिक्षण कितनोके भाग्यमे लिखा होता है ?

(महाराष्ट्र धर्म जनवरी, १९२३)

: ४ :

चार पुरुषार्थ

मनुष्यके अत करणकी सूक्ष्म भावनाओकी दृष्टिसे समाज-रचनाका गहरा अध्ययन करके हमारे ऋषियोने अनेक सुदर कल्पनाओका आविष्कार किया है। 'अनंत वै मनः। अनता विश्वेदेवा.'—मनकी अनत वृत्तिया होनेके कारण विश्वमे भी अनत शक्तिया उत्पन्न होती है। इन अनत मानसिक वृत्तियो और सामाजिक शक्तियोका सपूर्ण साक्षात्कार करके ऋषियोने धर्मकी रचना की है। स्वय ऋषि ही कहते हैं—'ऋषिः पश्यन् अबोधत्'। योग-शास्त्रमे योगीकी 'अर्धोन्मीलित' दृष्टिका वर्णन किया गया है। इसका रहस्य है—विश्वमे ओतप्रोत शक्तियोके अवलोकन तथा निरीक्षणके लिए आधी दृष्टि खुली रहे और अपने हृदयमे सन्निहित वृत्तियोके परीक्षणके लिए आधी दृष्टि भीतरकी तरफ मुडी रहे। कालके कराल जबडेमे पिसनेवाले दीन जनो के प्रति करुणासे आधी दृष्टि खुली हुई और अतर्यामी परमेश्वरके प्रेम-रसके पानसे मतवाली होनेके कारण आधी दृष्टि मुदी हुई। योगी ऋषियोकी इस अर्धोन्मीलित दृष्टिने अतर्बाह्य सारी सृष्टिके दर्शन कर लिये थे। इसीसे हिदू-धर्म अनेक आश्चर्यकारक कल्पनाओका भडार बन गया है। अर्जुनके अक्षय तरकसमे बाणोकी कमी होती ही न थी। उसी तरह हिंदूधर्म-रूपी महासागरमे छिपे हुए रत्न कभी खतम ही नही हो सकते। ऋषियोकी इन मनोहर कल्पनाओमे चतुर्विध पुरुषार्थकी कल्पना भी एक ऐसा ही रमणीय रत्न है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ बतलाये गये है। इनमेसे मोक्ष और काम दो परस्पर-विरोधी सिरोपर स्थित है। प्रकृति और पुरुष या शरीर और आत्मामे अनादि कालसे सघर्ष चला आ रहा है। वेदोमे जो वृत्र और इद्रके युद्धका वर्णन है वह इसी सनातन युद्धका वर्णन है। 'वृत्र'का अर्थ है ज्ञानको ढक देनेवाली शक्ति। 'इद्र' सज्ञा परोक्ष सकेतकी द्योतक है और उस अर्थको सूचित करनेके ही लिए खासकर गढी गई है। 'इदम्'—'द्र' या 'विश्वद्रष्टा' 'इद्र' शब्दका प्रत्यक्ष अर्थ है। यह है उसका स्पष्टीकरण। ज्ञानको ढाकनेकी कोशिश करनेवाली और ज्ञानका दर्शन करनेकी चेष्टा करनेवाली, इन दो

शक्तियोका अर्थ क्रमश जड, शरीरात्मक, भौतिक शक्ति और चेतन, ज्ञानमय, आत्मिक शक्ति है। इन दोनोमे सदा सघर्ष होता रहता है और मनुष्यका जीवन इस सघर्षमे फसा हुआ है। ये दोनो परस्पर-विरोधी तत्त्व एक ही व्यक्तिमे काम करते है, इसलिए मनुष्यका हृदय इनके युद्धका 'धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र' हो गया है आत्माको मोक्ष-पुरुषार्थकी अभिलाषा होती है, शरीरको काम-पुरुषार्थ प्रिय है। दोनो एक-दूसरेका नाश करनेकी ताकमे है।

मोक्ष कहता है, "काम आत्माकी जान लेनेपर तुला हुआ उसका कट्टर वैरी है। उसे मार डालो—निष्काम बनो। यह बडा मायावी और स्नेही मालूम होता है। लेकिन इसके प्रेमके स्वागपर मोहित होकर धोखा न खाना। यह जितना कोमल दीखता है उतना ही क्रूर है। इसके दिखानेके दात प्रेममय है, पर खानेके दात क्रोधसे भरे हुए। ऊपर-ऊपरसे यह चैतन्यरससे परिपूर्ण बालकोको जन्म देता हुआ दिखाई देता है। लेकिन यह वास्तविक नही है। "यह बूढी महतारी अबतक मरती क्यो नही" इसीकी इसे हमेशा फिक्र रहती है। याद रहे कि लडकेको जन्म देनेका अर्थ है पिताकी मृत्युकी तैयारी करना। अगर आपकी यह इच्छा होती कि आपके बाप-दादा, आपके पुरखा, जीवित रहे, तो क्या आप लडके और नाती-पोते पैदा करते ? क्या आपको पता नही कि इतने आदमियोका प्रचड 'लोकसग्रह' या मनुष्योका ढेर पृथ्वी सभाल नही सकती ? आप इतना भी नही जानते ? "मा तो मरने ही वाली है, वह हमारे वशकी बात नही", यह कह देनेसे काम नही चलेगा। हम यह नही भुला सकते कि माताकी मृत्युकी अवश्य-भाविता स्वीकार करके ही पुत्रका उत्पादन किया जाता है। इसीलिए तो जन्मका भी 'सूतक' (जननाशौच) रखना पडता है। चैतन्यरससे भरे बालकको उत्पन्न करने-का श्रेय अगर आपको देना हो, तो उसी रससे ओतप्रोत माताको मार डालनेका पातक भी उसीके मत्थे होगा। उत्पत्ति और सहार, काम और क्रोध, एक ही छडीके दो सिरे है। 'काम' कहते ही उसमे 'क्रोध'का अतर्भाव हो जाता है। इसीलिए अहिंसक वृत्तिवाले सत्पुरुष सहार-क्रियाकी तरह उत्पत्तिकी क्रियामे भी हाथ नही बटाते। सच तो यह है कि बालकका चैतन्यरस कामका पैदा किया हुआ होता ही नही। जिस गदे अगरजसे मलिन होनेमे मा बाप अपने-आपको धन्य मानते है वह रजोरस इसका पैदा किया हुआ होता है। कारण, इसका अपना जन्म ही रजोगुणकी धूल (रज)से हुआ है। आप अगर इसके मनोरथ

पूरे करनेके फेरमे पडेगे तो यह कभी अघायेगा ही नही, इतना बडा पेटू है। जिस-जिसने इसे तृप्त करनेका प्रयोग किया वे सभी असफल हुए। उन सबको यही अनुभव हुआ कि कामकी तृप्ति कामोपभोग द्वारा करनेका यत्न स्वय क्षत्रिय बनकर पृथ्वीको नि क्षत्र करनेके प्रयासकी तरह व्याघातात्मक या असगत है। इसे चाहे जितना भोग लगाइए, सब आगमे घी डालने-जैसा ही होता है। इसकी भूख बढती ही जाती है। अन्नदाता ही इसका सबसे प्यारा खाद्य है और उसे खानेमे इसे नि सदेह भस्मासुरसे भी बढकर सफलता मिलती है। इसलिए इस कामासुरको वरदान देनेकी गलती न कीजिए।

इसकी ठीक उलटी बात काम कहता है। वह भी उतनी ही गभीरतासे कहता है—"मोक्षके चकमेमे आओगे तो नाहक अपना कपाल-मोक्ष (कपाल-क्रिया) करा लोगे। याद रखो, वेदातकी ही बदौलत हिंदुस्तान चौपट हुआ है। यह तुम्हे स्वर्गसुख और आत्म-साक्षात्कारकी मीठी-मीठी बाते सुनाकर भुलावेमे डालेगा। लेकिन यह इसकी खालिस दगाबाजी है। ऐसे काल्पनिक कल्याणके पीछे पडकर ऐहिक सुखको जलाजलि देना बुद्धिमानीकी बात नही है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योकी चर्चा यदि कोई घडीभर मनोविनोदके लिए भोजनके अनतर नीद आनेसे पहले या नीद आनेके लिए करे तो उसकी वह क्रीडा क्षम्य मानी जा सकती है। परतु, यदि कोई खालीपेट यह चर्चा करनेका हौसला करेगा, तो वह याद रक्खे कि उसे व्यावहारिक 'तत्त्वमसि' (पैसे)की ही शरण लेनी होगी। चादनी बिलकुल आटे-जैसी सफेद भले ही हो, परतु उसकी रोटिया नही बनती। और तो कुछ नही; मोक्षकी चिताकी बदौलत जीवनका आनद खो बैठोगे। इस विश्वके विविध विषयोका आस्वाद लेनेके लिए तुम्हे इद्रिया दी गई है। लेकिन यदि तुम 'जगन्मिथ्या' मानकर इद्रियोको मारनेका उद्योग करते रहोगे तो आत्मवचना करोगे और आखिर तुम्हे पछताना पडेगा। पहले तो जो आखोको साफ-साफ नजर आता है उस ससारको मिथ्या मानो और फिर जिसके अस्तित्वके विषयमे बडे-बडे दार्शनिक भी सशक है, वैसी 'आत्मा' नामक किसी वस्तुकी कल्पना करो, इसका क्या अर्थ है? वेदोने भी कहा है, 'कामस्तदग्रे समवर्तत'—सृष्टिकी उत्पत्ति कामसे हुई। और इसका अनुभव तो सभीको है। यदि दरअसल ईश्वर जैसी कोई वस्तु हो तो भी कल यदि सभी लोग निष्काम होकर ब्रह्मचर्यका पालन करने लगे तो जिस सृष्टिको उत्पन्न होनेसे

बचानेके लिए यही परमेश्वर समय-समयपर अवतार-धारण करता है उसका पूरा-पूरा विध्वस हुए बिना न रहेगा। 'मोक्ष'के माने अगर आत्यतिक सुख हो तो सरल भाषामे उसका अर्थ चिरतन कामोपभोग ही हो सकता है।"

यह है कामकी दलील।

सपूर्ण त्याग और सपूर्ण भोग, ये परस्पर-विरोधी दो ध्रुव है। एक कहता है शरीर मिथ्या है, दूसरा कहता है आत्मा झूठी है। दोनोको एक-दूसरेकी परवाह नही, दोनो पूरे स्वार्थी है। लेकिन आत्मा और शरीर दोनोका मिलन मनुष्यमे हुआ है। इसलिए इस तरह दोनो पक्षमे अपने ही सगे-सबधी देखकर अर्जुनके लिए आत्मनिर्णय करना असभव हो गया उसी तरह कर्मयोगके धर्मक्षेत्रमे अपने स्नेही-सबधियोको दोनो विपक्षोसे सलग्न देखकर मनुष्यके लिए किसी भी एक पक्षके अनुकूल स्थायी और निश्चित निर्णय देना कठिन हो जाता है। मनकी द्विधा स्थिति हो जाती है और एक मन शरीरका पक्ष लेता है, दूसरा आत्माकी हिमायत करता है। मनुष्यका जीवन अ-शरीर आत्मा और आत्महीन शरीरकी सधिपर आश्रित है, इसलिए उसे शुद्ध आत्मवाद या मोक्ष-पूजा पचती नही, और शुद्ध जडवाद या कामोपासना रुचती नही। इन दोनो मत्रोमे अद्वैत कायम करना, या उनका सामजस्य करना बडे कौशलका काम है। यह कर्म करनेकी चतुराई या 'कौशल' ही जीवनका रहस्य है।

यदि देहासक्त या नीचेवाले मनको 'मन' और आत्म-प्रवण या ऊपरवाले मनको 'बुद्धि' नाम दिया जाय, तो 'मन' और 'बुद्धि'मे एकता करके व्यवहार करना चाहिए। 'त्वयाऽर्धम्—मयाऽर्धम्' यह गणितकी समता यहा किसी कामकी नही। "घरमे चार रोटिया है और दो लडके है, तो हरेकको कितनी रोटिया दी जाय ?" ऐसी त्रैराशिककी समता अगर माताए सीखने लगे तो बडा अधेर हो जाय। एक लडका दो सालका है और दूसरा पच्चीस वर्षका। पहला अतिसारसे मरेगा और दूसरा भूखसे। ऐसे हिसाबी न्यायका अवलम्बन करके आधा शरीरका सतोष आधा आत्माका सतोष करनेकी कोशिशसे यह मसला हल नही होगा। समताका अर्थ है योग्यताके अनुसार कीमत आकना। गणित-शास्त्रमे अनतके आगे चाहे जितनी बडी सान्त सख्या ली जाय तो भी उसकी कीमत अनतके मुकाबिलेमे शून्य समझी जाती है। उसी तरह शरीरकी योग्यता कितनी ही बढाई जाय, तो भी आत्माकी अनत महिमाके मुकाबिलेमे वह शून्यवत्

हो जाती है। इसलिए निष्पक्ष समताको आत्माके ही पक्षका समर्थन करना चाहिए।

यह हुआ एक पक्ष। इस पक्षकी दृष्टिमे शुद्ध आत्मपक्ष या आत्मवाद इष्ट है, परतु जबतक देहका बधन है तबतक वह शक्य नही प्रतीत होता। पर 'ससार छोडकर परमार्थ करनेसे खानेको अन्न भी नही मिलता', यही कथन बहुतेरे लोगोके दिमागमे—या यो कह लीजिए कि पेटमे—तुरत घुस जाता है। 'उदरनिमित्तम्' सारा ढकोसला होनेसे सभी चाहते है कि गुड-खोपडेके नैवेद्यसे ही भगवान् सतुष्ट हो जाय। नामदेवका दिया हुआ नैवेद्य भगवान खाते नही थे, इसलिए वह वही धरना देकर बैठ गये। लेकिन इनका दिया हुआ गुड-खोपडा यदि भगवान सच-मुच खाने लगे, तो भगवानको एकादशी व्रत रखानेके लिए यह नई मडली सत्याग्रह किये बिना न रहेगी! ये आत्माको थोडे-से सतुष्ट करना चाहते है। कारण कि अगर आत्माको बिलकुल ही सतोष न दिया जाय और केवल देहपूजाके धर्मका ही अनुसरण किया जाय तो उस देहपूजाके समर्थनके लिए नास्तिक तत्त्वज्ञानका पारायण करनेपर भी अतरात्माका दश बद नही होता। इसलिए दोनो पक्षोकी दृष्टिसे समझौता वाछनीय है। यह समझौता करानेका भार धर्म और अर्थने लिया है।

जब दो आदमी मार-पीट करके एक-दूसरेका सिर फोडनेपर आमादा हो जाते है तब उनका टटा मिटानेके लिए दोनो पक्षके लोग बीच-बचाव करने लगते है। उसी प्रकार आत्मवादी मोक्ष और देहवादी कामका झगडा मिटानेके लिए मोक्षकी तरफसे धर्म और कामकी तरफसे अर्थ ये दो पुरुषार्थ उपस्थित हुए है। अब, ये—कम-से-कम दिखानेको तो—समझौता करानेके लिए बीच-बचाव करते है, इसलिए निष्पक्ष वृत्ति या समझदारीके समझौतेका स्वाग करना उनके लिए लाजिमी हो जाता है। अत उनकी भाषा दोनो पक्षोको थोडी-बहुत खुश करनेवाली होनी चाहिए, और होती भी है। परतु यद्यपि इन लोगोको तकरार मिटानेकी बात करनी पडती है तथापि उनके दिलमे यह उत्कट इच्छा नही होती कि दोनो पक्षोमेसे किसीपर भी मार न पडे। वे लहू-लुहान सिर देखना नही चाहते, मगर सिर्फ अपने पक्षका। यदि केवल शत्रु-पक्षके ही सिर फूटते हो तो उन्हे कोई परवाह न होती। लेकिन दु खका विषय तो यह है कि शत्रु-पक्षके साथ-साथ अपने पक्षके सिरपर भी डडे पडते ही है। इसीलिए झगडा तै करानेकी

इतनी उत्सुकता होती है। साराश, धर्म और काम यद्यपि टटा मिटानेके लिए शाति-मत्र जपते हुए बीच-बचाव करने आये है, तथापि वास्तवमे तो धर्मके मनमे यही इच्छा होती है कि कामका सिर अच्छी तरह कुचल दिया जाय, और अर्थ भी सोचता है कि मोक्ष मर जाय तो अच्छा हो! किसी भी एक पक्षका नाश होनेसे झगडा तो खतम होगा ही! कई बार जो काम लडाईसे नही होता, वह सुलहसे हो जाता है। योद्धाओकी तलवारकी अपेक्षा राजनीतिज्ञोकी कलमको कभी-कभी सफलताका अधिक हिस्सा मिलता है। 'मोक्ष' और 'काम'को अगर योद्धा माने तो 'धर्म' और 'अर्थ'को राजनीतिज्ञ कहना चाहिए। दोनो समझौता चाहते है, लेकिन धर्मकी यह कोशिश होती है कि सधिकी शर्ते मोक्षानुकूल हो, और अर्थकी यह चेष्टा होती है कि वे कामानुकूल हो। प्रत्येक चाहता है कि समझौता तो हो, लेकिन अपने पक्षकी कोई हानि न हो। यहा इस समझौतेका थोडा-सा नमूना ही दिखाया जा सकता है। उदाहरणके लिए—

मोक्ष ब्रह्मचारी और काम व्यभिचारी है। इस प्रकार ये दो सिरे है। धर्म कहेगा—"हमारा आदर्श ब्रह्मचर्य ही होना चाहिए, इसमे सदेह नही। उस आदर्शके पालनका जोरोसे यत्न करना चाहिए। जब काम बहुत ही भूकने लगे तब धार्मिक विधिके अनुसार गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार कर, उसके आगे एकाध टुकडा डाल देना चाहिए। परतु वहा भी उद्देश्य तो सयमके पालनका ही होना चाहिए और फिर तैयारी होते ही श्रेष्ठ आश्रममे प्रवेश करके उससे छूटकारा पाना चाहिए। ब्रह्मचर्यसे ससार उत्सन्न होगा, यह पापके समर्थनमे दी जानेवाली लचर दलील है। ससारके उत्सन्न होनेकी फिक्र आप न करे। उसके लिए भगवान पर्याप्त है। ब्रह्मचर्यसे सृष्टि नष्ट नही होगी, बल्कि मुक्त होगी। फिर भी सयमका पालन करनेके अभिप्रायसे गृहस्थ-वृत्ति स्वीकार करनेमे आपत्ति नही है। इसमे कामका भी थोडा-बहुत काम निकल जायगा। लेकिन इससे कब छुटकारा पाऊगा, इसकी चिता और चितन लगातार करते रहना चाहिये। इससे मोक्षकी भी पूर्व-तैयारी हो जायगी।

अर्थ कहेगा—"अगर व्यभिचारको स्वीकृति दी जाय तो ससारकी व्यवस्थाका अत हो जायगा। इसलिए वह न इष्ट है न सभव। परतु, ब्रह्मचर्यका नियम तो एकदम निसर्ग-विरोधी है। वह अशक्य ही नही, अनिष्ट भी है। तब, बीचका गृहस्थ-वृत्तिका ही राजमार्ग शेष रहता है। इसमे थोडा-सा सयमका कष्ट जरूर

है, लेकिन वह अपरिहार्य है। बुढापेमे इद्रिया जर्जरित हो जानेपर अनायास ही त्याग हो जाता है। इसलिए यह त्यागकी शर्त अपरिहार्य होनेके कारण उसे मजूर कर लेना चाहिए। इससे मोक्षको भी जरा तसल्ली होगी। लेकिन विवाहका बधन अभेद्य माननेका कोई कारण नही है। विवाह हमारे सुखके लिए होते है, हम विवाहके लिए नही है। इसलिए हम विवाहके धर्मका स्वीकार नही करते, लेकिन विवाहकी नीति का स्वीकार कर सकते है।"

मोक्षकी दृष्टिमे अहिसा परम धर्म है। पतजलिने कहा है कि यह 'जाति-देश-काल-समय' आदि सारे बधनोसे परे 'सार्वभौम महा व्रत' है। इसके विपरीत कामका सिद्धात-वाक्य 'ईश्वरोऽहमह भोगी' है। इसलिए उसका तो बिना हिंसाके निर्वाह ही नही हो सकता, क्योकि साम्राज्यवादकी वृकोदर-वृत्तिकी इमारत हिंसाके ही पायेपर रची जा सकती है।

ऐसी स्थितिमे धर्म कहेगा—"कम-से-कम मानसिक हिंसा तो किसी हालतमे नही होने देनी चाहिए। शरीर-धर्मके रूपमे कुछ-न-कुछ हिंसा अनजाने भी हो ही जाती है। उसे भी कम करनेकी कोशिश करनी चाहिए। परतु प्रयत्न करनेपर भी कमजोरीके कारण जो हिंसा बाकी रह जायगी उतनी क्षम्य समझी जाय। पर इसका यह अर्थ नही कि उतनी हिंसा करनेका हमे अधिकार है। किंतु उतनीके लिए हम परमेश्वरसे नम्रता-पूर्वक क्षमा मागे और अपनी बुद्धि शुद्ध रक्खे। अगर क्षमा-वृत्ति असभव ही हो, तो 'सौ अपराध माफ करूगा', जैसा कोई व्रत लेकर हिंसाको आगे टाल देना चाहिए। इतना करनेपर भी हम अपनी वृत्तिको काबूमे न रख सके, हमारे अत करणमे छिपा हुआ पशु अगर जाग ही उठे तो हम अपनेसे अधिक बलवान् व्यक्तिसे लोहा ले, कम-से-कम अपनेसे कम बलवान्को तो क्षमा करे। यह भी नामुमकिन हो तो अपने बचावके लिए हिंसा करे, हमला करनेके लिए नही। उसमे भी फिर हिंसाके साधन जहातक हो सके सीधे-सादे और सुथरे हो। केवल शरीरसे ही द्वद्व-युद्ध करे, हथियार काममे न लावे। साराश, चाहे धर्ममें हिसाका स्थान भले ही न हो, लेकिन हिंसामे धर्मका स्थान अवश्य होना चाहिए।"

अर्थ कहेगा—"हिंसाके बिना ससारका चलना ही असभव है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' सृष्टिका न्याय है। हमें उसे मानना ही पडेगा। लेकिन हिंसा करना भी एक कला है। उस कलामे निपुणता प्राप्त किये बिना किसीको

भी हिंसा नही करनी चाहिए। मुसलमानोके राजमे जितनी गायोकी हत्या होती थी उससे कई गुनी गाये अंग्रेजोके राजमे कत्ल की जाती है, यह बात सरकारी आकडोसे साफ जाहिर है। लेकिन मुसलमान हिसाकी कलाके पडित नही थे इसलिए उनके खिलाफ इतना हो-हल्ला मचा। अंग्रेजोसे किसीको खास चिढ नही होती। इसका कारण है हिंसाकी कला। इन्फ्लुएजाने तीस करोड आदमियोमेसे थोडे ही समयमे साठ लाख आदमियोको खाकर अपने-आपको बदनाम कर लिया। वस्तुत. मलेरिया उससे अधिक आदमियोका कलेवा कर लेता है। लेकिन धीरे-धीरे चबा-चबाकर खानेका आहार-शास्त्रका नियम उसे मालूम है, इसलिए वह वडा साहू ठहरा। नये चकित्सिा-विज्ञानका एक नियम है कि शीतोपचार और उष्णोपचार एकके बाद एक बारी-बारीसे करते रहना चाहिए। वही नियम हिंसापर भी लागू होता है। जबतक युद्धके पश्चात् शाति-परिषद् और शाति-परिषद्के बाद फिर युद्ध, यह क्रम भलीभाति जारी न किया जा सके तबतक हिंसा नही करनी चाहिए। चूनेपर ईंटे और ईंटोपर चूना रख-रखकर दीवार बनाई जाती है, और फिर उसपर चूना पोता जाता है। उसी प्रकार शातिके बाद युद्ध और युद्धके बाद शातिके क्रमसे साम्राज्य कायम करके उस साम्राज्यपर फिर शातिका चूना पोतना चाहिए। इसके बदले अगर केवल ईंटोपर ईंटे ही जमाई जाय तो सारी ईंटे लुढककर गिर जाती है। इसलिए दो हिंसाओके बीच एक अहिंसाको स्थान अवश्य देना चाहिए। इतना समझौता कर लेनेमे कोई हर्ज नही।"

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यम्' यह मोक्षका सूत्र-वाक्य है। इसके विपरीत जहा कामोपभोग ही महामत्र है वहा अर्थ-सचयका अनुष्ठान स्वाभाविक ही है। धर्मके मतसे **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्य.'**—मनुष्यकी तृप्ति अर्थसचयसे कदापि नही हो सकती। इसलिए अर्थसग्रह करना ही हो तो उसकी मर्यादा बना लेनी चाहिए। सृष्टिका स्वरूप 'अश्वत्थ' है। अर्थात् कलके लिए सचय उसके पास नही है। इसलिए मनुष्यको भी 'अश्वत्थ-सग्रह' रखना चाहिए। **'स एवाद्य स उश्व.'**—"वह आज भी है और कल भी है", यह वर्णन ज्ञान-सग्रहपर घटित होता है। इसलिए एक आदमी चाहे कितना भी ज्ञान क्यो न कमाये, उसके कारण दूसरेका ज्ञान नही घट सकता। परतु द्रव्य-सग्रहकी यह बात नही है। मै अगर पच्चीस दिनके लिए आज ही सग्रह करके रखता हू तो मेरा व्यवहार

चौवीस मनुष्योका आजका सग्रह चुरानेके बराबर है, और इतने मनुष्योको कम या अधिक मात्रामे भूखो मारनेका पाप मेरे सिर है। इसके अलावा, सृष्टिमें अधिक सग्रह ही न होनेके कारण इतना सग्रह करनेके लिए मुझे कुटिल मार्गका अवलबन करना पडता है। एक बारगी सग्रह करनेमे मेरी शक्तिपर अतिरिक्त बोझ पडता है इसलिए मेरी वीर्य-हानि होती ही रहती है। इसके अतिरिक्त, इतना परिग्रह सुरक्षित रखनेकी चिताके कारण मेरा चित्त भी प्रसन्न नही रह सकता। अर्थसग्रहकी एक ही क्रियामे सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाचो व्रतोका सामुदायिक भग होता है।

इसलिए कम-से-कम, यानी केवल शरीर-निर्वाहके लिए ही, सग्रह करना चाहिए। वह भी—'अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमसजातवारिणा'—"शरीर-श्रम द्वारा शरीरमेसे पानी निकालकर"—करना चाहिए। केवल शरीर-कर्मसे शरीर-यात्रा चलानेसे पाप लगनेका डर नही होता—'नाप्नोति किल्बिषम्' यह भगवान श्रीकृष्णका आश्वासन है। परतु, जैसा कि कालिदासने रघुवशके राजाओंका वर्णन करते हुए कहा है, उसमे भी त्यागकी वृत्ति होनी चाहिए। कारण, केवल तुम्हारा धन ही नही, तुम्हारा शरीर भी तुम्हारा निजका नही है, किंतु सार्वजनिक है, ईश्वरका है। साराश, सग्रहका परिणाम अश्वत्थ या तात्कालिक, साधन शारीरिक श्रम, हेतु केवल शरीर-यात्रा और वृत्ति त्यागकी हो तो इतना भोग धर्मको मजूर है। 'तेन त्यक्तेन भुजीथा'।

अर्थ की राय मे—

"ससारमे जीवन-कलह चिरस्थायी है। जो योग्य होगा वह टिकेगा; जो अयोग्य होगा उसका नाश होगा। इसलिए सबका सुभीता देखनेका प्रयास व्यर्थ है। इसके अलावा, विश्वका विस्तार अनत है। उसका एक जरा-सा ही हिस्सा हमारे काबूमे आ पाया है। भौतिक शास्त्रो (विज्ञान)की ज्यो-ज्यो उन्नति होगी त्यो-त्यो हमारा प्रभुत्व भी अधिक विस्तृत होनेकी सभावना है। इसलिए अगर हम सबकी सुविधा देखनेकी अनावश्यक जिम्मेदारी स्वीकार कर भी लें, तो भी उसे पूरी करनेका एकमात्र उपाय हमारा अपना सग्रह कम करना नही है। सबके सामुदायिक सग्रहकी वृद्धि करनेका एक दूसरा रास्ता भी हमारे लिए अभी खुला है। और वही पौरुष का रास्ता है। सृष्टि में अक्षय भण्डार भरा हुआ है। पर हमे उसका पूरा ज्ञान नही है। इसलिए वैज्ञानिक आविष्कारोकी दिशामें

प्रयत्न जारी रखकर भविष्यके लिए सग्रह करनेमे कोई हर्ज नही है—बल्कि, सग्रह करना कर्तव्य है। मनुष्यकी जरूरते जितनी बढेगी उतना ही व्यापारको उत्तेजन मिलेगा और सपत्ति बढेगी। इसलिए सग्रह अवश्य करना चाहिए।

"लेकिन बिलकुल ही एकातिक स्वार्थ ठीक नही होगा। कारण कि मनुष्य समाजबद्ध है इसलिए उसे दूसरोके स्वार्थका भी विचार करना ही पडता है। ससारकी रोटीको स्वादिष्ट बनानेके लिए स्वार्थके आटेमे थोडा-सा परार्थका नमक भी मिलाना जरूरी हो जाता है। लेकिन याद रहे कि आटेमे नमक मिलाना है, न कि नमकमे आटा। स्वार्थके गालपर परार्थका तिल बना देनेसे शोभा बढ जाती है। लेकिन तिलके बराबर बिंदी लगाना एक बात है और सारे गालमे काजल पोत लेना दूसरी बात है। परार्थके सिद्धातको अगर अनावश्यक महत्त्व दिया जायगा तो परावलबनको प्रोत्साहन मिलेगा। स्वार्थ स्वावलबनका तत्त्व है। स्वार्थमय जीवन-सग्राममे जो दुर्बल ठहरेगे उन्हे मरना ही चाहिए। और दुर्बलोको मारनेमे अगर हम कारणीभूत हो, तो वह दूषण नही है किंतु भूषण ही है।

"एक दृष्टिसे तो दान करना दूसरोका अपमान करना है। प्याऊ खोलनेमे पुण्य माना जाता है, लेकिन स्वय धर्म-शास्त्रोने ही कहा है कि प्याऊपर पानी पीनेवाला पापका भागी होता है। इसका क्या मतलब है ? क्या प्याऊ इसलिए होती है कि लोग उसका पानी ही न पिये ? दूसरोको पानी पिलानेसे उन्हे हमारे पापका अश मिलेगा और हमारा पाप कुछ अशमे घटेगा, इस विचारमे कहातक उदारता है ? और फिर यह देखिए कि मै लोगोकी चिता करू और लोग मेरी चिंता करे, इस तरहका द्राविडी प्राणायाम करनेके बदले क्या यही श्रेयस्कर नही है कि हर एक अपनी-अपनी फिक्र करे ? शहरोमे फूहड स्त्रिया अपने बच्चोको रास्तेपर शौच कराती है। लेकिन मजा यह कि अपने घरकी अगल-बगलमे गदगी न हो, इसलिए अपने बच्चोको दूसरोके घरोके सामने बैठाती है। और दूसरे भी प्रतियोगी-सहयोगके सिद्धातके अनुसार उसके घरके सामने बैठाते है। इसके बदले सीधे अपने बच्चेको अपने घरके सामने बैठाये तो क्या हर्ज है ? यह परार्थका तत्त्व भी इसी कोटिका है। इसलिए मनुष्यताका अपमान करनेवाली यह परार्थ-वृत्ति त्यागकर हर एकको स्वार्थ-साधना करते रहना चाहिए। दूसरेकी बहुत अधिक चिंता नही करनी चाहिए। सहानुभूतिके सुखके

लिए या दूरदर्शी स्वार्थकी दृष्टिसे, तात्कालिक सुखका त्याग क्वचित् करना पडता है। उतना समझौता जरूर कर लेना चाहिए।"

काम, क्रोध और लोभ ये तीन नरक के दरवाजे माने गये है। इसलिए मोक्षका मुख्य आक्रमण इन्हीपर होना स्वाभाविक है। इसलिए इन तीनोके विषयमे, समझौतेकी दृष्टिसे, धर्म और अर्थका क्या रुख हो सकता है, इसका विचार अबतक किया गया। आखिर काम भी एक पुरुषार्थ ही है। इसलिए उसका जो चित्र यहा खीचा गया है, वह शायद कुछ लोगोको अतिरजित मालूम होगा। लेकिन है वह बिलकुल वस्तु-स्थितिका निदर्शक। "स्वर्गकी गुलामीकी अपेक्षा तो नरकका अधिराज्य श्रेयस्कर है", मिल्टनके शैतानका यह वाक्य भी इसी अर्थका द्योतक है। 'पुरुषार्थ'का अर्थ है पुरुषको प्रवृत्त करनेवाला हेतु। यह आवश्यक नही कि यह हेतु 'सद्धेतु' ही हो। हिंदू-धर्मने कामको भी 'पुरुषार्थ' माना है। इसका यह अर्थ नही है कि उसने कामपर मान्यता (स्वीकृति)की मुहर लगा दी हो। वहां तो इतना ही अर्थ है कि काम भी मनुष्यके मनमे रहनेवाली एक प्रेरक शक्ति है। आत्मवान् पुरुष शायद उसे स्वीकार भी न करे। इसके विपरीत 'मोक्ष'-की गिनती भी 'पुरुषार्थों'मे करके हिंदू-धर्मने उसपर शक्यताकी मुहर नही लगाई है। वहा भी इतना ही अभिप्राय है कि मोक्ष भी मानवीय मनकी एक प्रेरक शक्ति है। देहधारी पुरुषके लिए उसकी आज्ञा मानना शायद असभव भी हो।

शास्त्रकारोने तो केवल मनुष्यकी अत्युच्च और अतिनीच प्रेरणाओकी तरफ सकेत मात्र किया है। मोक्ष परम पुरुषार्थ है, इसलिए इच्छा यह है कि मनुष्य उसकी तरफ अग्रसर हो। और काम अधम पुरुषार्थ है, इसलिए इरादा यह है कि जहातक हो सके, उसकी शकल ही न देखी जाय। लेकिन इन दोनोका मिलाप करनेकी प्रेरणा होना मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। इसलिए धर्म और अर्थ नित्यकी दो प्रेरणाए कही गई है। मनुष्यको सतोष देनेकी चेष्टा करनेवाले ये दो मध्यस्थ है। सस्कार-भेदसे किसीको धर्म प्रिय होगा, किसीको अर्थ प्यारा लगेगा।

वल्लभाचार्यकी व्यवस्थाके अनुसार सृष्टिके तीन विभाग होते है—(१) पुष्टि, (२) मर्यादा और (३) प्रवाह। जो आत्म-साक्षात्कारका अमृत पीकर पुष्ट हो गये है, मोक्ष-शास्त्रके ऐसे उपासक पुष्टिकी भूमिकापर विहार किया करते है। मायानदीके प्रवाहमे बहे जानेवाले काम-शास्त्रके अनुयायी प्रवाह-पतित वासनाओंके

गुलाम होते है। ये दोनो तरहके व्यक्ति समाज-शास्त्रकी मर्यादासे परे है। काम-कामी पुरुष समाजके सुखका विचार ही नही कर सकता, क्योकि उसे तो अपना सुख देखना है। मोक्षार्थी पुरुष भी समाज-सुखकी फिक्र नही कर सकता, क्योकि उसे किसीके भी सुखकी चिंता नही। कामशास्त्र स्व-सुखार्थी है और मोक्ष-शास्त्र स्व-हितार्थी है। इस तरह दोनो स्व-अर्थी ही है। "प्रायेण देव-मुनय. स्व-मुक्तिकामा"—"देव या ऋषि भी प्राय स्वार्थी ही होते है", यह भगवद्भक्त प्रह्लादकी प्रेमभरी शिकायत है। इन दो एकातिक वर्गोके सिवा सामाजिक कानूनो या नियमोकी मर्यादाओमे रहनेवाले जो लोग होते है उनके लिए धर्मशास्त्र या अर्थशास्त्रकी प्रवृत्ति है।

अब मोक्ष-शास्त्रके साथ न्याय करनेकी दृष्टिसे इतना तो मानना ही पडेगा कि जैसे काम-शास्त्रको समाजकी परवा नही है वैसे समाजको मोक्ष-शास्त्रकी कदर नही है। अर्थात् समाज और काम-शास्त्रके अनबनकी जिम्मेदारी अगर काम-शास्त्रपर है तो समाज और मोक्ष-शास्त्रके अनबनका दायित्व समाजपर ही है। मोक्ष-शास्त्र स्वहित-परायण तो है, परतु जैसा स्व-सुख और पर-सुखका विरोध है वैसा स्व-हित और पर-हितका विरोध नही है। इसलिए जो 'स्व-हित'-रत होता है वह अपने आप ही 'सर्व भूत-हितेरत' हो जाता है।

लेकिन मनुष्य 'सर्वभूत-हितेरत' होते हुए भी समाजको प्रिय नही होता। कारण यह कि समाज सुख-लोलुप होता है, उसे हितकी कोई खास परवा नही है। सात्त्विकताका जुल्म भी वह ज्यादा सह नही सकता। यह सच है कि सत जगतके कल्याणके लिए होते है। लेकिन यदि वे जगतके सुखके लिए हो तो समाजको प्रिय होगे। ईसा, सुकरात, तुकाराम आदि सत समाजको प्रिय है, परतु अपने-अपने समय मे तो वे समाजको काटेकी तरह चुभते थे। आज भी वे इसलिए प्रिय नही है कि समाज उतना आगे बढ गया है, बल्कि इसलिए कि वे आज जीवित नही है।

अब, कामशास्त्र चूकि बिलकुल ही तामस और समाजकी अवहेलना करनेवाला है, इसलिए वह समाजको दुखदायी होता है। काम-शास्त्र समाजको 'दुख' देता है, मोक्ष-शास्त्र 'हित' देता है, इसलिए दोनो समाज-बाह्य है। काम-शास्त्रका तामस 'प्रवाह' और मोक्ष-शास्त्रकी सात्त्विक 'पुष्टि' दोनो समाजको एक-सी अपथ्यकर मालूम होती है। किसी-किसी मरीजकी ऐसी नाजुक हालत हो जाती

है कि उसे अन्न दीजिए तो हजम नही होता और उपवास सहन नही होता। समाज भी एक ऐसा ही नाजुक रोगी है। बेचारा चिकित्सकोंके प्रयोगका विषय हो रहा है! उसके लिए तामस प्रवाह और सात्त्विक पुष्टि दोनो वर्ज्य ठहरे है, इसलिए उसपर राजस मर्यादाके प्रयोग हो रहे है। धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनो समाजके लिए मर्यादाए कायम करनेवाले शास्त्र है। दोनोको राजस कहा जाय तो भी धर्मशास्त्रको सत्त्व-प्रचुर और अर्थशास्त्र को धर्म प्रचुर कहना होगा। हमारे यहा मुख्यत धर्मशास्त्रका विकास हुआ, पश्चिममे अर्थशास्त्रका हुआ।

थोडासा समुद्र-मथन करते ही विष निकल आया, परन्तु अमृत हाथ आनेके लिए वहुत परिश्रम करना पडा। उसी न्यायसे समाज-शास्त्रके जरा-से अध्ययनसे अर्थशास्त्र का जन्म होता है, लेकिन धर्मशास्त्रके उदयके लिए गभीर अध्ययनकी आवश्यकता होती है। हमारे यहा भी अर्थशास्त्र था। वह बिलकुल रहा ही नही ऐसी वात नही है, परतु उसकी जहरीली तासीर जान कर समाज-शास्त्रका अधिक मथन किया गया और धर्मशास्त्र निकाला गया। आर्य-सस्कृतिमे अर्थ-शास्त्रका विकास नही हुआ, इसका यही कारण है। या फिर यह कहना ही गलत है कि विकास नही हुआ। पूर्ण विकास हुआ इसीलिए धर्मशास्त्रका उदय हुआ। पाश्चात्य अर्थशास्त्रके इतिहास से भी इसी वात का प्रमाण मिल रहा है। "अर्थ-शास्त्रात्तु बलवद् धर्मशास्त्रमिति स्थितिः"—"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्र अधिक प्रमाणभूत है", इस सिद्धातका जन्म हुए विना अर्थ-शास्त्रका छुटकारा ही नही हो सकता। इस सिद्धातके जन्मके अरमान पाश्चात्य सस्कृतिको गत शताब्दीके उत्तरार्धसे होने लगे है।

अर्थशास्त्रके श्रम-विभागके तत्त्वसे अब सभी ऊबने लगे है। गरीब राष्ट्र आमरण 'अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नम्'—'मैं खाद्य हू, मैं खाद्य हू, मैं खाद्य हू'—ऐसी उपासना करें और बलवान् राष्ट्र 'अहमन्नाद, अहमन्नाद, अहमन्नाद'—"मैं खानेवाला हू, मैं खानेवाला हू, मै खानेवाला हू"—यह मत्र जपते रहे, ऐसे तीव्र श्रम-विभागसे अब दुनिया बिलकुल उकता गई और चिढ़ गई है। रस्किन-जैसे दार्शनिकोने अर्थशास्त्रके विरुद्ध जो मोर्चा शुरू किया उसे आगे चलानेवाले वीरोकी परपरा अव्याहत चल रही है और उस मोर्चेका अत विजयमें ही होनेके स्पष्ट लक्षण दिखाई देने लगे है। 'अर्थशास्त्र'को शकराचार्यने 'अनर्थशास्त्र'

नाम कभीका दे रक्खा है । उसी नामका, 'डिस्मल साइस' (काली विद्या) कहकर, जीर्णोद्धार पाश्चात्य लोग कर रहे है । इसीलिए अर्थशास्त्रके नये सशोधित सस्करण निकलने लगे है । इन सब लक्षणोसे आशा की जा सकती है कि पाश्चात्य सस्कृति-की कोखसे धर्मका अवतार होगा । पिछले महायुद्धसे तो प्रसव-वेदना भी शुरू हो गई है, इससे कुछ लोगोका यह खयाल है कि अब यह अवतार जल्दी ही होने-वाला है ।

यह अवतार कितनी देरमे होनेवाला है, यह कहना कठिन है । लेकिन इस अवतारके आनेकी प्रारभिक तैयारी करनेवाले नीति-शास्त्रका जन्म हो चुका है और वह दिन-पर-दिन बडा भी हो रहा है । धर्म-प्रधान पौरस्त्य सस्कृति और अर्थ-प्रधान पाश्चात्य सस्कृतिकी एक-वाक्यताकी आशा नीतिशास्त्रसे बहुत-कुछ की जा सकती है । लेकिन आकाश और पृथ्वीको स्पर्श करनेवाले क्षितिजकी रेखा जिस प्रकार काल्पनिक है उसी प्रकारकी स्थिति इस उभयान्वयी शास्त्रकी भी है । कोशका काम केवल भले-बुरे सभी तरहके शब्दोका सग्रह करना है । इस-लिए उसका अपना कोई भी विशेष सदेश नही होता । "तुम व्यवहार करते समय मेरा उपयोग कर सकते हो", इससे अधिक वह कुछ नही कह सकता । इसी तरह नीतिशास्त्रका कोई विशेष प्रमेय नही है । आशा लगाये 'मुझे बरतो, मुझे बरतो' कहते रहना ही उसके भागमे लिखा है । उसकी गिनती पुरुषार्थोमे करनेकी किसीको नही सूझती ।

नीतिशास्त्रका सिद्धात ही यह है कि किसी भी सिद्धातका अत्यधिक आग्रह नही रखना चाहिए । इसलिए इस बिंदुपर सारी दुनियाको एक किया जा सकता है । लेकिन 'सतोपसे रहो', 'हिलमिलकर रहो' या 'जैसे चाहो वैसे रहो'— इस तरहकी सदिग्ध सिफारिश करनेसे अधिक नीति-शास्त्र आज कुछ भी नही कर सकता । इसलिए उसके झडेके नीचे सारा विश्व एकत्र होनेकी सभावना होते हुए भी इस भव्य दिग्वस्त्रकी अपेक्षा लोगोको लगोटीसे भी अधिक सतोष होता है । 'मरनेतक जीओगे', इस आशीर्वादमे सत्य है, परतु स्फूर्ति नही है । इसलिए इस आशीर्वादमे उतना सतोष देनेकी भी सामर्थ्य नही है, जितना सतोष कि परीक्षितको 'सात दिनमे मरोगे', इस शापसे हुआ होगा । मनुष्यको मनुष्यतासे व्यवहार करना चाहिए, यह नीति-शास्त्रका रहस्य है । और मनुष्यताके क्या मानी है ? मनुष्यका स्वभाव ! सज्ञाके मानी (प्रत्येक पदार्थका) नाम !

ऐसे व्यापक-शास्त्रसे मनुष्यको सतोष कैसे हो सकता है ? सस्कृत न्यायशास्त्रमे ऐसे ही प्रचड प्रमेय होते है । "जिसमे घटत्व है वह घट है", "जिसमे पटत्व है वह पट है", "जिसमे पत्थरपन है वह पत्थर है ! और जिसमे यह सब हो वह है न्यायशास्त्र !" ऐसी ही दशा नीतिशास्त्रकी हो रही है । इसलिए धर्म-मोक्षकी बात तो जाने दीजिए, अर्थ-कामके बराबरकी स्फूर्ति भी उसमे नही है ।

परतु इतना तो मानना ही पडेगा कि धर्म और अर्थ चाहे कितना ही समझौतेका स्वाग क्यो न भरे, फिर भी वे पक्षपाती ही है और नीतिशास्त्र निष्पक्षपात है । निष्पक्षपात वृत्तिके कारण आकर्षक शक्ति कुछ कम भले ही हो, तो भी वह उसका गुण ही माना जाना चाहिए । नित्यके भोजनमे आकर्षण नही होता। रोजकी खूराक होनेसे नीति-शास्त्रमे चाहे आकर्षकताका अभाव भले ही हो, परतु सारे समाजको देने योग्य उससे बढकर पौष्टिक दूसरी खूराक नही है । धर्म-मोक्ष पौष्टिक होते हुए भी महगे है । अर्थ-काम सस्ते तो है, मगर उनकी गिनती कुपथ्यमे होती है । इसलिए ससारको आज नीतिशास्त्रके बिना गत्यतर नही है ।

ऊपर कहा गया है कि हमारी सस्कृति धर्म-प्रधान है । परतु इसका यह अर्थ नही कि हम धर्म-प्रधान है । हम तो अर्थ-कामके ही दास है । इसलिए यद्यपि हमारी सस्कृतिको नीतिकी परवाह नही, तथापि हमारे लिए नीतिकी उपासना करना नितात आवश्यक है। साराश, क्या हमारी और क्या इतरो की—सारे ससार हीकी—सामान्य भाषा नीतिशास्त्र ही है, ऐसा कहा जा सकता है । सभी पुरुषार्थोकी शिक्षा इसी भाषामे दी जानी चाहिए । नीति पुरुषार्थ भले ही न हो, किंतु पुरुषार्थके शिक्षणका द्वार है । अगर पुरुषार्थोका भाषातर नीतिकी भाषामे किया जाय तो सभी पुरुषार्थोका स्वरूप सौम्य तथा परस्परानुकूल प्रतीत होगा ।

वसिष्ठ ऋषिके आश्रममे गाय और बाघ एक ही झरनेपर पानी पीते थे, ऐसा वर्णन है । इसका केवल इकहरा ही अर्थ नही है, प्रत्युत दोहरा अर्थ है—अर्थात् न केवल बाघकी क्रूरता ही नष्ट होती थी, बल्कि गायकी भीरुता भी नष्ट हो जाती थी । मतलब यह कि गाय ऋण भय=शेर ऋण क्रौर्य । इस तरह मेल बैठता है । नही तो शेरको गाय बनानेकी सामर्थ्य तो सर्कस वालोमे भी है । उसके लिए ऋषिके आश्रमकी जरूरत नही है ।

नीतिके आश्रममे भी सभी पुरुषार्थोका आग्रही या एकागी स्वरूप बदलकर उनका समन्वय हो सकेगा। नीतिके शीशेमेंसे चारो पुरुषार्थोके रग बिलकुल बदले हुए नजर आयेगे। कामकी सुदरता, अर्थकी उपयोगिता, धर्मकी पवित्रता और मोक्षकी स्वतत्रताका एकत्र दर्शन होगा और सपूर्ण जीवनकी यथार्थ कल्पना होगी। सौदर्य, उपयोगिता, पावित्र्य और स्वातत्र्य, इन चारो दिशाओको नीतिका आकाश स्पर्श करता है, इसलिए अगर चारो पुरुषार्थ ये नई पोशाके पहनना मजूर करे तो उनका द्वैत कम होकर मनुष्यको सतोप होनेकी सभावना है।

परतु आधुनिक नीतिशास्त्रका अपना कोई निश्चित सिद्धात न होनेके कारण वह बिलकुल खोखला हो गया है। इसलिए उससे ठोस सतोषकी आशा करना व्यर्थ है। दूसरी भाषामे, वर्तमान नीतिशास्त्रके आत्मा ही नही है, इसलिए उसका स्वरूप बहुत-कुछ शाब्दिक हो गया है। चार पुरुषार्थोके मिलापकी सभावना दिखाई जानेपर भी उनमे समझौता करनेका कर्तृत्व इस शास्त्रमे नही है, इसलिए इस कमीकी पूर्ति करनेके उद्देश्यसे ऋषियोने कर्तृत्ववान् योगशास्त्रका निर्माण किया। समझौतेकी पूर्वतैयारीके लिए नीतिशास्त्रको धन्यवाद देकर अगले कार्यके लिए इस योगशास्त्रकी शरण लेनी पडेगी। **'अथ योगानुशासनम्'**।

(महाराष्ट्र धर्म जनवरी, १९२३)

: ५ :

परशुराम

यह एक अद्भुत प्रयोगी लगभग पच्चीस हजार बरस पहले हो गया है। यह कोकणस्थोका मूल पुरुष है। माकी ओरसे क्षत्रिय और बापकी तरफसे ब्राह्मण। पिताकी आज्ञासे इसने माका सिर ही काट डाला था। कोई पूछ सकते है, 'यह कहातक उपयुक्त था ?' लेकिन उसकी श्रद्धाको सशकता छूतक नही गई थी। 'निष्ठासे प्रयोग करना और अनुभवसे ज्ञान प्राप्त करना', यही उसका सूत्र था।

परशुराम उस जमानेका सर्वोत्तम पुरुषार्थी व्यक्ति था। उसे दुखियोके प्रति दया थी और अन्यायोसे तीव्रतम चिढ। उस समयके क्षत्रिय बहुत ही उन्मत्त

हो गये थे। वे अपनेको जनताका 'रक्षक' कहते थे, लेकिन व्यवहारमे तो उन्होंने कभीका 'र'को 'भ'मे बदल दिया था। परशुरामने उन अन्यायी क्षत्रियोका घोर प्रतीकार शुरू किया। जितने क्षत्रिय उसके हाथ आये, उन सबको उसने मार ही डाला। 'पृथ्वीको नि क्षत्रिय बनाकर छोड़ूगा', यह उसने अपना विरद बना लिया था।

इसके लिए वह अपने पास हमेशा एक कुल्हाडी रखने लगा। और कुल्हाडीसे रोज कम-से-कम एक क्षत्रियका सिर तो उडाना ही चाहिए, ऐसी उपासना उसने अपने ब्राह्मण अनुयायियोमे जारी की। पृथ्वी नि क्षत्रिय करनेका यह प्रयोग उसने इक्कीस बार किया। लेकिन पुराने क्षत्रियोको जान-बूझकर खोज-खोजकर मारने और उनकी जगह अनजाने नये-नये क्षत्रियोका निर्माण करनेकी प्रक्रिया-का फलित भला क्या हो सकता था ? आखिर रामचद्रने उसकी आखोमे अजन डाला। तबसे उसकी दृष्टि कुछ सुधरी।

तब उसने उस समयके कोकणके घने जगल तोड-तोडकर बस्तिया बसानेके रचनात्मक कार्यका उपक्रम किया। लेकिन उसके अनुयायियोको कुल्हाडीके हिसक प्रयोगका चस्का पड गया था, इसलिए उन्हे कुल्हाडीका यह अपेक्षाकृत अहिसक प्रयोग फीका-सा लगने लगा। निर्धनको जिस प्रकार उसके सगे-सबधी त्याग देते है, उसी प्रकार उसके अनुयायियोने भी उसे छोड दिया।

लेकिन यह निष्ठावान् महापुरुष अकेला ही वह काम करता रहा। ऐच्छिक दरिद्रताका वरण करनेवाले, आरण्यक प्रजाके आदि सेवक भगवान् शकरके ध्यानमे वह प्रतिदिन नई स्फूर्ति प्राप्त करने लगा और जगल काटना, झोपडिया बनाना, वन्य पशुओकी तरह एकाकी जीवन व्यतीत करनेवाले अपने मानव-बधुओ को सामुदायिक साधना सिखाना—इन उद्योगोमे उस स्फूर्तिसे काम लेने लगा। निष्ठावत और निष्काम सेवा ज्यादा दिन एकाकी नही रहने पाती। परशु-रामकी अदम्य सेवावृत्ति देख कोकणके जगलोके वे वन्य निवासी पिघल गये और आखिर उन्होने उसका अच्छा साथ दिया। अपने-आपको ब्राह्मण कहलानेवाले उसके पुराने अनुयायियोने तो उसका साथ छोडकर शहरोकी पनाह ली थी; मगर उनके बदले ये नये अवर्ण अनुयायी उसे मिले। उसने उन्हे स्वच्छ आचार, स्वच्छ विचार और स्वच्छ उच्चारकी शिक्षा दी। एक दिन परशुरामने उनसे कहा, 'भाइयो, आजसे तुम लोग ब्राह्मण हो गये।'

राम और परशुरामकी पहली भेट धनुर्भग-प्रसगके वाद एक बार हुई थी। उसी वक्त उसे रामचद्रसे जीवन-दृष्टि मिली थी। उसके वाद इतने दिनोमें उन दोनोकी भेट कभी नही हुई थी। लेकिन अपने वनवासके दिनोमे रामचद्र पचवटीमे आकर रहा था। उसके वहाके निवासके आखिरी वर्षमे व.गलाणकी तरफसे परशुराम उससे मिलने आया था। जब वह पचवटीके आश्रमको पहुचा, उस समय रामचद्र पौधोको पानी दे रहे थे। परशुरामसे मिलकर रामचद्रको बडा ही आनद हुआ। उसने उस तपस्वी और वृद्ध पुरुपका साप्टाग प्रणाम-पूर्वक स्वागत किया और कुशल-प्रश्नादिके वाद उसके कार्यक्रमके बारेमे पूछा। परशु-रामने कुल्हाडीके अपने नये प्रयोगका सारा हाल रामचद्रको सुनाया। वह सुन रामचद्रने उसका वडा गौरव किया। दूसरे दिन परशुराम वहासे लौटा।

अपने मुकामपर वापस आते ही उसने उन नये ब्राह्मणोको रामका सारा हाल सुनाया और बोला,

"रामचद्र मेरा गुरु है। अपनी पहली ही भेटमे उसने मुझे जो उपदेश दिया, उससे मेरी वृत्ति पलट गई और मै तुम्हारी सेवा करने लगा। अवकी मुलाकातमे उसने मुझे शव्दो द्वारा कोई भी उपदेश नही दिया। लेकिन उसकी कृतिमेंसे मुझे उपदेश मिला है। वही मै अब तुम लोगोको सुनाता हू।

"हम लोग जगल काट-काटकर बस्ती वसानेका यह जो कार्य कर रहे है, वह बेशक उपयोगी कार्य है। लेकिन इसकी भी मर्यादा है। उस मर्यादाको न जानकर हम अगर पेड काटते ही रहेंगे, तो वह एक वडी भारी हिसा होगी। और कोई भी हिंसा अपने कर्तापर उलटे बिना नही रहती, यह तो मेरा अनुभव है। इसलिए अब हम पेड काटनेका काम खत्म करे। आजतक जितना कुछ किया, सो ठीक ही किया, क्योकि उसीकी बदौलत पहले जो 'अ-सह्याद्रि' था, वह अब 'सह्याद्रि' वन गया है। लेकिन अब हमे जीवनोपयोगी वृक्षोके रक्षणका काम भी अपने हाथमे लेना चाहिए।"

यह कहकर उसने उन्हे आम, केले, नारियल, काजू, कटहल, अनन्नास आदि छोटे-वडे फलके वृक्षोके सगोपनकी विधि सिखाई। उसे इसके लिए स्वय वनस्पति-सवर्धन-शास्त्रका अध्ययन करना पडा और उसने अपने हमेशाके उत्साहसे उस शास्त्रका अध्ययन किया भी। उसने उस शास्त्रमे कई महत्त्वपूर्ण शोध भी किये। पेडोको मनोज्ञ आकार देनेके लिए उन्हे व्यवस्थित काटने-छाटनेकी जरूरत महसूस-

गीतामे श्रीभगवान्‌ने कहा है, 'वल बलवतामस्मि कामराग-विवर्जितम्।' (वलवानोमे मै वैराग्य-युक्त निष्काम वल हू।) शब्दोपर खूब ध्यान दो। सिर्फ 'वल' नही कहा। 'वैराग्य-युक्त निष्काम वल'। इस वैराग्य-युक्त निष्काम वलकी ही मूर्ति हम व्यायामशालाओमे रक्खा करते है। वह कौन-सी मूर्ति है? हनूमानजीकी पवित्र और सामर्थ्यवान मूर्ति। हनूमानजी वैराग्य-युक्त निष्काम वलके पुतले थे। इसलिए वाल्मीकिने उनके स्तुति-स्तोत्र गाये। रावण भी महा वलवान था। लेकिन रावणमे वैराग्य नही था। रावणका वल भोगके लिए था, दूसरोको सतानेके लिए था। रावण पहाड उठाता था, वज्र तोड डालता था, दस आदमियोका वल मानो उस अकेलेमे था। इसीलिए उसके दस मुह और वीस हाथ दिखाये गये। इतना वलवान होते हुए भी उसका सारा बल धूलमे मिल गया। हनूमानका वल अजरामर हो गया है। वाल्मीकिने वलकी ये दो मूर्तिया, ये दो चित्र, उपस्थित किये है। रावणके वलमे भोग-वासना थी। रावण वलके द्वारा भोग प्राप्त करना चाहता था। हनूमान वलके द्वारा सेवा करना चाहता था। सेवाको अर्पण किया हुआ वल टिकेगा, अमर होगा। भोगको अर्पण किया हुआ वल अपने और ससारके नाशका कारण होगा।

समुद्रके तीरपर सारे वानर वैठे थे। लकामे कौन जायगा, इसकी चर्चा हो रही थी। हनूमान एक तरफ राम-राम जपते वैठे थे। जामवत हनूमानके पास जाकर वोला, "हनूमान, तुम जाओगे?" हनूमान वोला, "आपका आशीर्वाद हो, तो जाऊगा।"

वह अकेला वानर किस शक्तिके वूते उन वलवान राक्षसोमे निर्भय होकर चला गया? हनूमानसे जव यह सवाल पूछा गया तव उसने क्या जवाव दिया? यह कि मै अपने वाहुवलके जोरपर आया? हनूमान वोला, "मै रामके भरोसे यहा आया हू। मेरे वाजुओमे जोर है या नही, यह मुझे नही मालूम। परतु रामका वल अवश्य मेरे पास है।"

और जरा गहराईसे सोचो, तो वाहुवलका भी क्या अर्थ है? वाहुवलके मानी है शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति। इसीके लिए ये हाथ है। सेवाके लिए ही हम हस्तवान् है। पशुके हाथ नही है। भुजाओके वलके प्रयोगसे हम अन्नका निर्माण करे, सेवा करें। हमारी कलाइयोमे यह जो सेवा करनेकी शक्ति है, वह किसकी शक्ति है? हनूमान जानता था कि वह आत्माकी शक्ति है, रामकी शक्ति है।

जिस बलकी आत्मामे श्रद्धा न हो, राममे श्रद्धा न हो, वह बल निकम्मा होता है। अमृतसरमे कत्ले-आम हुआ। उसके बाद लोगोका तेजोभग करनेके इरादेसे, उन्हे शर्मिंदा करनेकी मन्शासे, रास्तेमे पेटके बल चलाया गया। पहाड जैसे पजाबी लोग, ऊचे-पूरे, तगडे डील-डौलवाले! लेकिन वे भी पेटके बल रेगने लगे! क्योकि राममे उनकी श्रद्धा नही थी। आत्माकी निर्भयता वे जानते नही थे। आज बगालमे यही हाल है। लोगोपर मनमानी पाबदिया लगाई जा रही है। रास्तेसे फौज गुजर रही हो तो सलाम करने आना पड रहा है। क्या कारण है? आत्माकी निर्भयता गले नही उतरती। जिसने रामका बल पहचान लिया, वह कलिकालसे भी नही डरा करता। शरीरबल रामके लिए है। वह सेवाके लिए है। भोगके लिए नही है।

दूसरी बात यह है भुजाओंमे जो बल है, वह तुच्छ वस्तु है। वह केवल बल निराधार है। वह बल आत्मश्रद्धापर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए। निर्बलोमे भी आत्मश्रद्धासे बल पैदा हो जाता है। उपनिषद् कह रहे है कि जिसमे श्रद्धाका बल है, वह दूसरे सौ आदमियोको कपा देगा। इसलिए आध्यात्मिक बलकी उपासना चाहिए।

हनूमानमे पशुबल नही था। हनूमानका जो स्तुति-श्लोक है, उसमे दूसरे सारे बलोका वर्णन है, परतु शरीर-बलका उल्लेख कही नही है। यथा—

मनोजव मारुत-तुल्य-वेगम्;
जितेन्द्रियं बुद्धिमतावरिष्ठम्।
वातात्मज वानरयूथ-मुख्यम्;
श्रीराम-दूत शरण प्रपद्ये॥

(मनके समान वेगवान, वायुके समान वेगवान, जितेद्रिय, बुद्धिमानोमे वरिष्ठ, पवनसुत, वानरोके सेनापति, रामदूतकी मै शरण जाता हू।)

हनूमान मन और पवनके समान वेगवान थे। वह जितेद्रिय थे, वह अत्यत बुद्धिमान थे, वह नायक थे, वह रामदूत थे—इन सारी बातोका वर्णन है। हनूमान बलका देवता है। लेकिन इस स्तुतिमे बलका जिक्र तक नही। क्या यह आश्चर्यकी बात नही है? परतु ये गुण ही वास्तविक बल है। ये गुण ही यथार्थ कार्य-शक्ति है।

मनुष्यमे वेग चाहिए, स्फूर्ति चाहिए, मनके समान वेग चाहिए, सामने काम देखते ही उसे चटसे आनदसे छलाग मारनी चाहिए। सिंहगढ फतह करनेका

मदेशा आते ही तानाजी चल पडा। नही तो, मनमे सेवाकी मुराद है, लेकिन शरीर टस-से-मस नही होता, वह आलसमे लोट-पोट हो रहा है। ऐसा शरीर किस कामका? ज्ञानेश्वरने वडा सुदर वर्णन किया है। सेवक कैसा चाहिए? ज्ञानेश्वर कहते हैं—'आंग मनापुढें घे दौड़ा'—शरीर मनके आगे-आगे दौडता है। कोई वात मनमे आनेसे पहले ही शरीर दौडने लग जाना चाहिए।

शरीरमे इस तरहका वेग होनेके लिए ब्रह्मचर्य चाहिए, जितेद्रियत्व चाहिए, इद्रियोपर कावू चाहिए। सयमके विना यह वल नही मिल सकता। वेग और सयमके साथ-साथ वुद्धि भी चाहिए, कर्म-कुशलता भी चाहिए, कल्पना-शक्ति चाहिए और चाहिए प्रतिभा। सिर्फ फर्मावरदारी ही काफी नही है। इसके अलावा, रामकी सेवाकी भावना चाहिए। जहा राम कहे, वहा जानेके लिए दिन-रात तैयार रहना चाहिए।

हिंदुस्तानके करोडो देवता तुम्हारी सेवाके इच्छुक है। उन्हे तुम्हारी सेवाकी जरूरत है। उस सेवाके लिए तैयार रहो। वेगवान, वुद्धिमान, सयमी, सेवाके शौकीन तरुण वनो। शारीरिक वल कमाओ, प्रेम कमाओ। अभी मैने इस व्यायामशालाके अखाडेमे कुश्तिया देखी। एक कुश्ती एक हरिजन और ब्राह्मणमे हुई। मैने उसमे समभाव पाया। अगर हम इसी समभावमे आइदा व्यवहार करेगे तो समाज वलवान होगा। अगर तुम इस समभावका पोषण करोगे तो तुम जो खेल खेले, जो कुश्तिया लड़े, उनमेसे कल्याण ही होगा।

खेलमे हम समभाव सीखते है। शिस्त, (अनुशासन) व्यवस्थाका महत्त्व सीखते है। इन खेलोके अलावा दूसरे भी अच्छे खेल खेले जा सकते है। खेतकी जमीन खोदना भी एक खेल ही है। एक साथ कुदालिया ऊपर उठती है, एक साथ जमीनमे घुस रही है,—कैसा सुदर दृश्य दिखेगा! इस खेलमे आदर्श व्यायाम होगा। उसमे वुद्धिके प्रयोगकी भी गुजाइश है। व्यायाममे वुद्धिको भी गति मिलनी चाहिए। इसलिए मेरे मतमे व्यायाम भी, कुछ-न-कुछ उत्पादन करनेवाला होना चाहिए।

यहाके खेलोसे तुम्हारे अदर शक्ति और प्रेम दोनो पैदा हो। सव तरहके, सव जातियोके, लडके एकत्र होते है, एक साथ खेलते है। इसमे प्रेमका विकास होता है। ये सस्मरण अगले जीवनमे उपयोगी होते है। हम साथ-साथ खेले, कुश्ती लडे, साथ-साथ शक्ति कमाई, ज्ञान कमाया, हाथ मिलाया, आदि सस्मरणोसे

आगे चलकर तुम एकत्र होगे। सघशक्ति और सहकार्य बढ़ेगा।

तुम गणवेष (वर्दिया) पहने हो। इनका उद्देश्य भी आत्मीयता बढ़ाना ही है। परतु तुम्हारी पोशाक खादीकी ही हो। जो कमर-पट्टे तुम बरतोगे, वे भी मुर्दार चमडेके हो। हमको सर्वत्र सचेत रहना चाहिए। बूद-बूदसे ही घडा भरता है। राष्ट्रमे सब तरफ सूराख-ही-सूराख हो गये है। सपत्ति लगातार बाहर जा रही है। इसकी तरफ ध्यान दो।

तुमने कसरत की। लेकिन दूध और रोटी न मिली, तो कैसे काम चलेगा? अगर तुम्हे दूध चाहिए, तो गोरक्षण भी होना चाहिए। गोरक्षणके लिए गायके—मरी हुई गायके—चमडेसे बनी हुई चीजे ही बरतनी चाहिए। रोटीके लिए किसानको जिलाना चाहिए। खादी खरीदकर हम उनको थोडी-सी मदद करेगे, तो वे जीयेगे और हमे रोटी मिलेगी। तुम्हे अगर घरपर रोटी नही मिलती, तो यहा आकर कितनी उछल-कूद करते? तुम जानते हो कि घरपर रोटी तैयार है, इसलिए यहा कूदे-फादे। अन्न कूदने-फादनेकी शक्ति देता है। इसलिए उपनिषद् कहता है—**अन्न वाव बलाद् भूयः** (अन्न, बलसे श्रेष्ठ है)। राष्ट्रमे अगर अन्न न होगा, तो बल कहासे आयेगा? पहले अन्नका इतजाम करोगे, तब कही अखाडे चलेगे। पहले अन्नका प्रबध होगा तब ज्ञानदानका प्रबध हो सकेगा।

एक बार भगवान् बुद्धका एक प्रचारक घूम रहा था। उसे एक भिखारी मिला। वह प्रचारक उसे धर्मका उपदेश देने लगा। उस भिखारीने उसकी तरफ ध्यान नही दिया। उसमे उसका मन ही नही लगता था। प्रचारक नाराज हुआ। बुद्धके पास जाकर बोला, "वहा एक भिखारी बैठा है, मै उसे इतने अच्छे-अच्छे सिखावन दे रहा था, तो भी वह सुनता ही नही।" बुद्धने कहा, "उसे मेरे पास लाओ।" वह प्रचारक उसे बुद्धके पास ले गया। भगवान् बुद्धने उसकी दशा देखी। उन्होने ताड लिया कि यह भिखारी तीन-चार दिनोसे भूखा है। उन्होंने उसे भरपेट खिलाया और कहा, "अब जाओ।" प्रचारकने कहा, "आपने उसे खिला तो दिया, लेकिन उपदेश कुछ भी नही दिया।" भगवान् बुद्धने कहा, "आज उसके लिए अन्न ही उपदेश था। आज उसे अन्नकी ही सबसे ज्यादा जरूरत थी। वह उसे पहले देना चाहिए। अगर वह जीयेगा तो कल सुनेगा।"

हमारे राष्ट्रकी आज यही दशा है। आज राष्ट्रमे अन्न ही नही है। रामदासके जमानेमे अन्न भरपूर था। आजकी तरह उस समय हिंदुस्तानकी सपत्तिका सोता सूखा नही था। इसलिए उन्होने प्राण की, वल की उपासनाका उपदेश दिया। आज देहातोमे सिर्फ अखाडे खोल देनेसे काम नही चलेगा।

जव राष्ट्रमे अन्नकी उपज और गोसेवा होगी, तभी राष्ट्रका सवर्धन होगा। वलवान तरुणोको राष्ट्रमे अन्न और दूधकी अभिवृद्धि करनी चाहिए। हिंदुस्तान-को फिरसे 'गोकुल' वनाना है। यह जव वनाओगे, तव वनाओगे। परतु आज तो खादीकी पतलून पहनकर और मरे हुए—मारे हुए नही—जानवरके चमडेका पट्टा पहनकर अन्नदान और गोपालनमे हाथ वटाओ।

खाकी पोशाक करो। लेकिन वह पोशाक करके गरीवोके पेटपर मत मारो। तुम गरीवोके सरक्षणके लिए कवायद करोगे। लेकिन गरीव जव जीयेगे तभी तो उनका रक्षण करोगे न ? तुम खाकी परिधान करके देशके वाहर पैसे भेजोगे और इधर गरीव मरेगे। फिर सरक्षण किसका करोगे ? तुम पैसे तो विदेश भेजोगे और दूध-रोटी मागोगे देहातियोसे ? वे तुम्हे कहासे देगे, भैया ? इस-लिए खाकी ही पहननी हो, तो खाकी खादी पहनो।

तुम्हारे गणवेष (वर्दिया) खादीके है, तुम्हारी सस्थामे हरिजन भी आते है, ये वाते वडी अच्छी है। लेकिन मुसलमानोको मुमानियत क्यो ? हिंदू-मुसलमानो-को एकत्र होने दो। कम-से-कम मुमानियत तो न करो। उन्हे यहा लानेकी कोशिश करो। तुम हिंदू-मुसलमान एक ही देशके हो। एक ही देशके हवापानी, अन्न-प्रकाशपर पल रहे हो। अगर हिंदू यहाके है तो मुसलमान वाहरके कैसे ? और अगर मुसलमान वाहरके है, तो हिंदू भी वाहरके है। लोकमान्य कहते है कि हिंदूलोग उत्तर ध्रुवकी तरफसे आये। हिंदू अगर पाच-दस हजार साल पहले आये, तो मुसलमान हजार साल पहले आये। परतु आजकी भाषामे तो यहीके कहे जायगे। दोनो भारतमाताके ही लाल है।

सव धर्मोके विषयमे उदार भावना रक्खो। जो सच्चा मातृभक्त है, वह सभी माताओको पूज्य मानेगा। वह अपनी माताकी सेवा करेगा, लेकिन दूसरेकी माताका अपमान नही करेगा। हरएक अपनी माके दूधपर पलता है। धर्म-माताके समान है। मुझे मेरी धर्म-माता प्रिय है। मै मातृपूजक हू, इसलिए मै दूसरेकी माताकी निंदा तो हरगिज नही करूगा। उलटे, उस माताका भी वदन करूगा।

दिलमे यह भाव पैदा होनेके लिए यथार्थ हरिभक्तिकी जरूरत है। चित्तमे यथार्थ भक्ति जाग्रत होनेपर यह सब होगा। बाहर उपासना और अदर उपासना—दोनो चाहिए। बाहर खेल चाहिए, भीतर प्रेम चाहिए। खेलोके द्वारा शरीर फुर्तीला और सुभग बनाकर आत्माको सौपना है। शरीर आत्माका हथियार है। हथियार भली-भाति उपयोगी होनेके लिए स्वच्छ चाहिए। शरीर ब्रह्मचर्यके द्वारा स्वच्छ करके आत्माके हवाले करो।

शरीर स्वच्छ रक्खो, उसी प्रकार मनको भी प्रसन्न, प्रेमल, निर्मल और सम रक्खो। खेलनेकी बाह्य क्रियासे शरीर स्वच्छ रहेगा। उपासनासे भीतरी शरीर, याने मन, निर्मल रहेगा। अतर-बाह्य शुचि बनो, जैसा यह हनूमान है—बलवान और भक्तिवान, सेवाके लिए निरतर तत्पर। तुम उम्रसे तरुण होते हुए भी अगर चपल न होगे, सेवाके लिए शरीर चटसे उठता न होगा, तो तुम बूढे ही हो। जिसके शरीरमे वेग है, वह तरुण है, चाहे उसकी अवस्था कुछ भी हो। हनूमान कभी बूढे नही हो सकते। वह चिर-तरुण है। चिरजीव है।

ऐसे चिरतरुण तुम बनो। तुम दीर्घायु होकर उम्रसे वृद्ध होगे, उस वक्त भी तरुण रहो। वेग बनाये रक्खो। वृद्धि साबित रक्खो। मै ईश्वरसे प्रार्थना करता हू कि हमारे तरुण इस प्रकार तन्मय बुद्धिसे जनताकी और उसके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करनेमे जुट जाय।[१]

(सर्वोदय नवबर, १९४१)

: ७ :

गृत्समद

१

यह एक मत्रद्रष्टा वैदिक ऋषि था। वर्तमान यवतमाल जिलेके कलब गावका रहनेवाला था। गणपतिका महान् भक्त था। 'गणानां त्वा गणपति

---

[१] धूलिया (खानदेश)की 'विजय व्यायामशाला'में दिये गये प्रवचनका मुख्य अश।

हवामहे' ('हम आपका जो कि समूहोके अधिपति है, आवाहन करते है'।) यह सुप्रसिद्ध मत्र इसीका देखा हुआ है । ऋग्वेदके दस मडलोमेसे द्वितीय मडल समूचा इसीका है । इस मडलमे तैंतालीस सूक्त है और मत्र-सख्या चार सौके ऊपर है । ऋग्वेद जगत्का अतिप्राचीन और पहला ग्रथ माना जाता है । ऋग्वेदके भी कुछ अश प्राचीनतर है । इस प्राचीनतर अशमे द्वितीय मडलकी गणना होती है । इसपरसे इतिहासज्ञ इस परिणाम पर पहुचे है कि गृत्समद करीब बीस हजार वर्ष पहले हुआ । गृत्समदका यह मडल सूक्तसख्या और मत्रसख्याके लिहाजसे ऋग्वेदके करीब पच्चीसवे हिस्सेके बराबर होगा ।

गृत्समद हरहुनरी आदमी था । ज्ञानी, भक्त और कवि तो वह था ही । लेकिन इसके अलावा गणितज्ञ, विज्ञान-वेत्ता, कृषि-सशोधक और मजा हुआ बुनकर भी था । जीवनके छोटे-बडे किसी भी अगकी उपेक्षा वह सहन नही कर सकता था । वह हमेशा कहा करता था, "**प्राये प्राये जिगीवांसः स्याम**"—'हमे हरएक व्यवहारमे विजयी होना चाहिए ।' और उसके ज्वलत उदाहरणके कारण आसपास रहनेवाले लोगोमे उत्साहका जाग्रत वातावरण बना रहता था ।

गृत्समदके जमानेमे नर्मदासे गोदावरीतक का सारा भूप्रदेश जगलोसे भरा हुआ था । पाच-पच्चीस मीलोके अतरपर एकाध छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी । शेष सारा प्रदेश निर्जन । आसपासके निर्जन वनमे बसी हुई गृत्समदकी एकमात्र बडी बस्ती थी । इस बस्तीने ससारका, कपासकी खेतीका, सबसे पहला सफल प्रयोग देखा । आज तो बरार कपासका भडार बन गया है । गृत्समदके कालमे बरारमे आजकी अपेक्षा बारिशका परिमाण ज्यादा था । उतना पानी सोख लेने-वाला कपासका पौधा गृत्समदने तैयार किया और उसे एक छोटे-से प्रयोगक्षेत्रमें लगाकर उससे दस सेर कपास प्राप्त किया । गृत्समदकी इस नई पैदावारको लोगोने 'गार्त्समदम्' नाम दिया । क्या इसीका ही लैटिन रूप 'गौसिपियम्' हो सकता है ?

उसकी बस्तीके लोग ऊन कातना-बुनना अच्छी तरह जानते थे । यह कार्य मुख्यत स्त्रियोके सिपुर्द था । आज बुननेका काम पुरुष करते है और स्त्रिया कुकडी भरने, माडी लगाने आदिमे उनकी मदद करती है । किंतु वैदिक कालमें बुनकरोका एक स्वतन्त्र वर्ग नही बना था । खेतीकी तरह बुनना भी सभीका काम था । उस युगकी ऐसी व्यवस्था थी कि सारे पुरुष खेती करते थे और सारी

स्त्रिया घरका कामकाज सम्हालकर बुनती थी। 'साझको सूर्य जब अपनी किरणें समेट लेता है, तब बुननेवाली भी अपना अधूरा बुना हुआ तागा समेट लेती है'—'पुन. समव्यत् वितत वयती'—इन शब्दोमे गृत्समदने बुननेवालीके जीवन-काव्यका वर्णन किया है।

गृत्समदके प्रयोगके फलस्वरूप कपास तो मिल गया, लेकिन, 'कपडा कैसे बनाया जाय'? यह महान् प्रश्न खडा हुआ। ऊन कातनेकी जो लकडीकी तकली होती थी, उसीपर सबने मिलकर कपासका सूत कात लिया। यद्यपि बुनाई स्त्रियोके ही सिपुर्द थी, तो भी कातनेका काम तो स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध सभी किया करते थे। सूत तो निकला, लेकिन बिलकुल रद्दी। अब उसे कोई बुने भी कैसे ?

गृत्समद हिम्मत हारनेवाला व्यक्ति नही था। उसने खुद बुनना शुरू किया। बुननेकी कलाकी सारी प्रक्रियाओका सागोपाग अभ्यास किया। सारा सूत दोषसपन्न पाया। लेकिन उसमेसे जो थोडा पक्का था, उससे उसने 'ततु' बनाया। 'ततु'के माने वैदिक भाषामे 'धागा' है। बाकी बचे हुए कच्चे सूतको 'ओतु' कहकर रख लिया। लेकिन माडी लगानेमे कटाकट-कटाकट तार टूटने लगे। गृत्स-मदको गणितज्ञ होनेके कारण टूटे हुए कितने तारोको जोडना पडा, इसका हिसाब भी करता था। पहली बारके माडी लगानेमे टूटे हुए तारोकी सख्या चार अकोकी (हजारकी) थी। बादमे तागा करघेपर चढाया गया। हत्थेकी पहली चोटके साथ चार-पाच तार टूटे। उन्हे जोडकर फिरसे ठोका, फिरसे टूटा। इसी तरह कितने ही हफ्तोके बाद पहला थान बुना गया। उसके बाद सूत धीरे-धीरे सुधरता चला। लेकिन फिर भी शुरूके बारह वर्षोमे बुनाईका काम बडा ही कष्ट-कर हो गया था। गृत्समदकी आयुके ये बारह वर्ष यथार्थ तपश्चर्याके वर्ष थे। वह इतना उत्साही और ततु-ब्रह्म, ओतु-ब्रह्म, ठोक-ब्रह्म और टूट-ब्रह्मकी ब्रह्ममय वृत्तिसे बुनाईका काम करनेवाला होता हुआ भी, जब सूत लगातार टूटने लगते थे, तो वह भी कभी-कभी पस्त-हिम्मत हो जाता था। ऐसे ही एक अवसरपर उसने ईश्वरसे प्रार्थना की थी, 'देवा, मा ततुश्छेदि वयत.'—"बुनते वक्त ततु टूटने न दे।" लेकिन ऐसी गलत प्रार्थना करनेके लिए वह तुरत ही पछताया था। इसलिए उसने उस प्रार्थनामे "धिय मे" याने 'मेरा ध्यान' ये दो शब्द मिलाकर उसे सवार लिया। "जब मै अपना ध्यान बुनता होऊ, तो उसका ततु टूटने न दे"—ऐसा उस सशोधित और परिवर्द्धित प्रार्थनामेंसे सुशोभित अर्थ निकला। उसका

भावार्थ इस प्रकार है—"मै जो खादी वुना करता हू, यह मेरी दृष्टिसे केवल एक वाह्य क्रिया नही है। वह तो मेरी उपासना है। वह ध्यानयोग है। बीच-बीचमे धागोके टूटते रहनेसे मेरा ध्यान-योग भग होने लगता है, इसका मुझे दु ख है। इसलिए यह इच्छा होती है कि धागे न टूटने चाहिए। लेकिन यह इच्छा उचित होते हुए भी, प्रार्थनाका विषय नही हो सकती। उसके लिए सूतमे उन्नति करनी चाहिए, और वह कर लूगा। लेकिन जवतक सूत कच्चा रहेगा, तवतक वह टूटता तो रहेगा ही। इसलिए अव यही प्रार्थना है कि सूतके साथ-साथ मेरी अतर्वृत्तिका, मेरे ध्यानका, धागा न टूटे।

गृत्समद अखड अतर्मुख वृत्ति रखनेका प्रयत्न करता हुआ भी प्रतिदिन कोई-न-कोई शरीर-परिश्रमात्मक और उत्पादक कार्य करता ही रहता था। 'माहं अन्यकृतेन भोजम्'—'मै दूसरोके परिश्रमोसे भोग कदापि प्राप्त न करू।'—यही उसका जीवन-सूत्र था। वह लोक-सेवा-परायण था। इसलिए उसके योगक्षेमकी चिता लोग ही किया करते थे। लेकिन वह अपने मनमे सदा यही चिंतन किया करता था कि 'लोगोमे मै जितना पाता हू, क्या उसे शतगुणित करके उन्हे लौटाता हू ? और उसमे भी क्या नवीन उत्पादनका कोई अश होता है ?'

इसी चितनके फलस्वरूप ही मानो एक दिन उसे अचानक गुणाकारकी कल्पना स्फुरित हुई। गणितशास्त्रको लोक-व्यवहार-सुलभ वनानेकी दृष्टिसे वह फुरसतके समय उसमे आविष्कार करता रहता था। उसके समयमे पड्-विधियोमेसे लोग सिर्फ जोडना और घटाना ही जानते थे। जिस दिन गृत्समदने गुणन-विधिका आविष्कार किया, उस दिन उसके आनदका वारापार ही नहीं रहा। उसने दोसे लेकर नौ तकके नौ पहाडे वनाये और फिर तो वह वासो उछलने लगा। पहाडे रटनेवाले लडकोको कही इस वातका पता लग जाय, तो वे गृत्समद-को विना पत्थर मारे नही रहेगे। लेकिन गृत्समदने आनदके आवेगमे आकर इद्रदेवका आवाहन पहाडोसे ही करना शुरु किया—"हे इद्र ! तू दो घोडेके, और आठ घोडोके और दस घोडोके रथमे बैठकर आ। जल्दी-से-जल्दी आ। इसके लिए तेरी मर्जी हो, तो दोके पहाडेके वदले दसके पहाडेसे काम ले। दस घोडोके, वीस घोडोके, और तीस घोडोके, और चालीस घोडोके और सौ घोडोके रथमे वैठकर आ।"

गृत्समद चौमुखा आविष्कारक था। पौराणिकोने उसके इस महान् आविष्कार-

का लेखा किया है कि चद्रमाका गर्भकी वृद्धिपर विशेष परिणाम होता है। वैदिक मत्रोमे भी इसकी ध्वनि पाई जाती है। चद्रमामे मातृवृत्ति रम गई है। और कलावान् तो वह है ही। इसलिए सूर्यकी ज्ञानमय प्रखर किरणोको पचाकर और उन्हे भावनामय सौम्य रूप देकर माताके हृदयमे रहनेवाले कोमल गर्भतक उस जीवनामृतको पहुचानेका प्रेमपूर्ण और कुशल कार्य चद्र कर सकता है और वह उसे निरतर करता रहता है--यह गृत्समदका आविष्कार है। आधुनिक विज्ञानने अवतक इस विषयपर विशेष प्रकाश नही डाला है। परावृत्त-किरण-विज्ञान, प्राण-विज्ञान और मनोविज्ञान, इन तीनोका यहा मिलाप होनेके कारण प्रश्न कुछ पेचीदा और सूक्ष्म है, इसमे शक नही। लेकिन गृत्समदका सिद्धात साधारण अविज्ञ मनको भी भाने लायक तो है। बालकका सौम्य रूप यदि 'सोमक्रत्' हो, तो क्या आश्चर्य है? जब हम सूर्यवशी रामको भी 'रामचद्र' कहते है, तब चद्रकी ही उपमा सूचित करते है न? कवियोने चद्रामृत पीनेवाले एक चकोरपक्षीकी कल्पना कर ली है। वह चकोरपक्षी अगर माताके उदरमे रहनेवाला गर्भ साबित हो, तो भी कवि तो हरगिज नाराज नही होगे। अपने-अपने अल्प प्रकाशसे टिम-टिमानेवाले तारे भी अपनी जगह छोडकर चद्रसे मिलने कभी नही जायगे। परतु चद्र विनम्र होकर प्रत्येक नक्षत्रसे भेट करने उसके घर जाता है। इतना बडा प्रेम-मूर्ति अगर गर्भस्थ बालककी चिता नही करेगा तो और कौन करेगा? चद्रकी कलाओकी पूर्णता पूर्णिमाको ही होती है। पूर्णिमाको उद्देश्य करके गृत्समद कहता है, 'हे पूर्णिमे, गर्भके टाके तू खूब मजबूत सुईसे लगा और शतगुणित प्रदान करने-वाला पराक्रमशील, प्रशसनीय सेवक उत्पन्न कर'--'ददातु वीर शतदाय उक्थ्यम्'।

(ग्रामसेवा-वृत्तसे सर्वोदय, सितबर, १९४१)

: ८ :

ग्रामलक्ष्मीकी उपासना

हमारा यह देश बहुत बडा है। इसमे सात लाख देहात है। हमारे देशमे शहर बहुत थोडे है। अगर औसत निकाला जाय, तो दसमेसे एक आदमी शहरमे

रहता है और नौ देहातमे रहते है। पैंतीस करोड लोगोमेंसे, ज्यादा-से-ज्यादा, चार करोड शहरोमे रहते है। इकतीस करोड देहातमे रहते है। लेकिन इन इकतीस करोडका ध्यान शहरोकी तरफ लगा रहता है। पहले ऐसा नही था। देहात मुहताज होकर शहरोका मुह नही ताकते थे। लेकिन आज सारी स्थिति वदल गई है।

आज किसानके दो ईश्वर हो गये है। आजतक एक ही ईश्वर था। किसान आकाशकी तरफ देखता था। पानी वरसानेवाले ईश्वरकी तरफ देखता था। लेकिन आज चीजोके भाव ठहरानेवाले देवताकी तरफ भी देखना पडता है। इसीको आस्मानी-सुलतानी कहते है। आस्मान भी रक्षा करे और सुलतान भी हिफाजत करे। परमात्मा खूव फसल दे और शहर भरपूर भाव दे। इस तरह इन देवताओको—एक आकाशका और दूसरा अमेरिकाका—किसानको पूजना पडता है। लेकिन ऐसे दो-दो भगवान काम नही आयेगे। गाधी कहते है ऊपरवाले ईश्वरको वनाये रक्खो और इस दूसरे देवताको छोडो। एक ईश्वर वस है।

अव इस दूसरे देवताकी, याने शहरिये भगवानकी, भक्तिसे छुटकारा पानेका उपाय मै तुमलोगोको वतलाता हू। हमारे गावोकी सारी लक्ष्मी यहासे उठकर शहरोमे चली जाती है। अपने पीहरसे चल वसती है। इस ग्रामलक्ष्मीके पैर गावमे नही ठहरते। वह शहरकी तरफ दौडती है। पहाडपर पानी भरपूर वरसता है, लेकिन वह वहा कव ठहरता है? वह चारो तरफ भाग निकलता है। पहाड बेचारा कोरा-का-कोरा, नग-धडग, गजा-वृचा, खडा-का-खडा, रह जाता है। देहातकी लक्ष्मी इसी तरह चारो दिशाओमे भाग खडी होती है। शहरोकी तरफ वेतहाशा दौडती है। अगर हम उसे रोक सके तो हमारे गाव सुखी होगे।

यह देहाती लक्ष्मी कौन-कौन-से रास्तोसे भागती है, सो देखो। उन रास्तोको वद कर दो, तव वह रुकी रहेगी। उसके भागनेका पहला रास्ता वाजार है, दूसरा शादी-व्याह, तीसरा साहूकार, चौथा सरकार और पाचवा व्यसन। इन पाचों रास्तोंको वद करना शुरू करे।

सवसे पहले व्याह-शादीकी वात लीजिए। तुम लोग व्याह-शादीमे कोई कम पैसा खर्च नही करते। उसके लिए कर्ज भी करते हो। लड़की वडी हो जाती है, अपने ससुरालमे जाकर गिरस्ती करने लगती है। लेकिन शादीके ऋणसे

उसके मा-बाप मुक्त नही होते। यह रास्ता कैसे मूदा जाय, सो बताता हू। तुम कहोगे, 'खर्चमे कतरब्योंत करो। भोज न दो, समारोहकी क्या जरूरत है ?'—वगैरा वगैरा। यह ठीक नही। समारोह खूब करो। ठाठबाटमे कमी नही होनी चाहिए। लेकिन मै अपनी पद्धतिसे कम खर्चमे पहलेसे भी ज्यादा ठाठ-बाट तुम्हे देता हू।

लडके-लडकीकी शादी मा-बाप ठीक करे। लेकिन वहा उनका काम खत्म हो जाना चाहिए। शादी करना, समारोह करना, यह सारा काम गावका होगा। मा-बाप शादीमे एक पाई भी खर्च नही करेगे। जो करेगे उनको जुर्माना होगा, ऐसा कायदा गाववालोको बना लेना चाहिए।

मान लीजिए मेरे यहा शादी है। गावके हरएक आदमीको दो-दो, चार-चार आने—जो कुछ तय हुआ हो—मेरे पास लाकर देने चाहिए। मानो सबने मिलकर मुझे वह भेट दी। उसमेंसे मै सारे गावका नेवता कर सकूगा। बगैर पैसा इकट्ठा किये और बगैर कर्ज किये शादी हो जायगी। गावमे हरसाल बीस-पच्चीस या पचास शादिया होती होगी। तो मुझे दो आनेके हिसाबसे, पचास दूने सौ आने, याने मोटे तौरपर छ. रुपये, देने पडेगे। हरएक जातिकी शादिया की जाय, तो इससे भी कम खर्च लगेगा। मेरे यहा दस सालमे शादीका मौका आया। मुझे हरसाल दो-तीन रुपयेके हिसाबसे दस वर्षोमे तीस रुपये देने पडे। अब मेरे यहा शादीका मौका आया। मुझे कोई खर्च नही आयगा। मुझे लोग भेट देगे। सब गाववाले जमा होगे। बडा भारी समारोह होगा। और खर्च कितना आयगा ? दस वर्षोमे जो तीस रुपये मैने दिये है, वही। याने मेरे यहाकी शादी तीस रुपयेमे हो गई और उसमे सारा गाव, सारी जाति, शामिल हुई। सभी भोजमे सम्मिलित हुए। लडके-लडकीको कितनी खुशी होगी ? दुलहे-दुलहिनको सबके आशीर्वाद मिलेगे। सबके आशीर्वाद पानेसे और बडी खुश-किस्मती कौन-सी हो सकती है ? शादीमे लोगोको क्यो बुलाया जाता है ? इसीलिए कि सबकी सदिच्छा, सबके आशीर्वाद मिले। इन लडके-लडकीकी गिरस्तीके लिए सब अपनी शुभ-कामनाए और आशा व्यक्त करे। लडके सिर्फ मा-बापके ही नही होते। वे सारे समाजके होते है। लडके कोई अच्छा काम करेगे, तो सारे गावका भला होगा, बुरा काम करेगे तो सारे गावकी बुराई होगी।

अगर कोई अपने पैसेसे शादी करे, तो वह पाप मानो। गाववाले उसे अपना अपमान समझे। लडके जितने अपने मा-बापके है, उतने ही समाजके भी है। मा-बापके मर जानेपर क्या वे घूरपर फेंक दिये जाते है? गाव उन्हे सम्हालता है, मदद करता है। शादी भी करेगा। आप इस रास्तेसे जाकर देखिए। प्रयोग कीजिए। साहूकारका ऋण कम होता है या नही, देखिए। आपका कर्ज घटेगा। झगडे कम होगे। सहयोग और आत्मीयता बढेगी।

दूसरा रास्ता बाजारका है। तुम देहाती लोग कपास बोते हो। लेकिन सारा-का-सारा बेच देते हो। फिर बुवाईके वक्त बिनौले शहरसे मोल लाते हो। कपास यहा पैदा करते हो। उसे बाहर बेचकर बाहरसे कपडा खरीद लाते हो। गन्ना यहा पैदा करते हो। उसे बेचकर शक्कर बाहरसे लाते हो। गावमे मूगफली, तिल्ली और अलसी होती है। लेकिन तेल शहरकी तेल-मिलसे लाते हो। अब इतना ही बाकी रह गया है कि यहासे अनाज भेजकर रोटिया बबईसे मगाओ। तुम्हे तो बैल भी बाहरसे लाने पडते है। इस तरह सारी चीजे बाहरसे लाओगे तो कैसे पार पाओगे?

बाजारमे क्यो जाना पडता है? जिन चीजोकी जरूरत होती है, उन्हे भर-सक गावमे ही बनानेका निश्चय करो। स्वराज्य माने स्वदेश का राज्य, अपने गावका राज्य। घर जानेपर तुम लोग सोचो कि अपने गावमे क्या-क्या बना सकते हो। देखो तुम्हे कौन-कौन-सी चीजे चाहिए। तुम्हारी खेतीके लिए बढिया बैल चाहिए। उन्हे मोल कहातक लोगे? तुम्हे बढिया बैल यही गावमे पैदा करने चाहिए। गायोका अच्छी तरह पालन करो। एक-दो बढिया साड उनमे रक्खो। बाकीके सबको बधिया करो। उससे गायोकी नस्ल सुधरेगी। अच्छे बैल मिलेगे। बैलोके लिए बागडोर, नथनी वगैरा चाहिए। गावमे सन, पटुआ वगैरासे यही बना लो। तुम्हे कपडेकी जरूरत है, उसे भी यही बनाना चाहिए। गावमे बुनकर न हो तो दो लडकोको सिखा लाओ। हरएकको अपने घरमे कातना चाहिए। उतना समय जरूर मिल जायगा। मूगफली गावमे ही होती है। यही घानी शुरू करो, तो यही ताजा तेल मिलेगा। गन्ना गावमे होता है। उसका गुड बनाओ। शक्करकी बिलकुल जरूरत नही है। गुड गरम होता है, लेकिन पानीमे मिलानेसे ठडा हो जाता है। गुडमे स्वास्थ्यके लिए पोषक द्रव्य है। गुड बनाओ। खोई जलानेके काम आयगी। गावके चमारसे ही जूते

बनवाओ। इस तरह गावमे ही सारी चीजे बननी चाहिए। पुराने जमानेमे हमारे गाव ऐसे ही स्वावलबी थे। उन्हे सच्चा स्वराज्य प्राप्त था।

गावका ही अनाज, गावका ही कपडा, गावका ही गुड, गावका ही तेल, गावके ही जूते, गावके ही डोर, गावके ही बैल, गावका ही घरका पिसा आटा—इस रवैयेको अपनाओ। फिर देखो तुम्हारे गाव कैसे लहलहाते है ? तुम कहोगे यह महगा पडेगा। यह केवल कल्पना है। मै एक उदाहरणसे समझाता हू। मान लो, तुम्हारे गावमे एक रगरेज है, एक बुनकर है, एक तेली है, एक चमार है। आज चमार क्या करता है ? वह कहता है, 'मै तेलीसे तेल नही लूगा, वह महगा पडता है। तेली क्या कहता है ? 'गावके चमारका बनाया हुआ जूता महगा है। मै शहरमे जूता खरीदूगा'। बुनकर कहता है—'मै गावका सूत नही लूगा। पुतलीघरका अच्छा होता है'। किसान कहता है—'मै बुनकर-का कपडा नही लूगा। मिलका लूगा। वह सस्ता होता है'। इस तरह आज हमने एक-दूसरेको मारनेका धधा शुरू किया है। एक-दूसरेको निबाह लेना धर्म है। उसे छोडकर हम एक दूसरेको मटियामेट कर रहे है।

लेकिन जरा मजा देखिए। तेली चार आने ज्यादा देकर चमारसे महगा जूता खरीदता है। उसके जेबसे आज चार आने गये। आगे चलकर वह चमार तेलीसे चार आने ज्यादा देकर महगा तेल खरीदता है। याने उसके चार आने लौट आते है। अर्थात् वह महगा नही पडता। जहा पारस्परिक व्यवहार होता है वहा 'महगा', जैसा कोई शब्द ही नही है। गये हुए पैसे दूसरे रास्तेसे लौट आते है। मै उसकी महगी चीज खरीदता हूँ, वह मेरी महगी चीज खरीदता है। हिसाब बराबर। इसमे क्या बिगडता है ? जुलाहेने खादी बनाई और तेलीने वह खरीद ली। तेलीके लिए खादी महगी है, जुलाहेके लिए तेल महगा है। बात एक ही है। तेलमे जो पैसे गये वे खादीमे वापस मिले और खादीमे गये सो तेलमे मिल गये। 'इस हाथ देना उस हाथ लेना'—इस तरहका भाईचारेका, सहयोगका व्यवहार पहले होना था। लेकिन वह आज लोप हो गया है।

देहातमे प्रेम होता है, भाईचारा होता है। देहातके लोग अगर एक-दूसरेकी जरूरतोका खयाल नही करेगे तो वह देहात ही नही है। वह तो शहरके जैसा हो जायगा। शहरमे कोई किसीको नही पूछता। सभी अपने-अपने मतलबके लिए वहा इकट्ठे होते है, जैसे गोबरका ढेर देखकर सैकडो कीडे जमा होते है। उस

सडनेवाले गोवरमे सैकडों कीडे कुलबुलाते है। वे कीडे वहा क्यो इकट्ठे हुए ? किसी कीडेसे पूछो, 'यहा क्यो आया ? तेरे कोई भाई-बहन यहा है' ? वह कीडा कहेगा, 'मै गोबर खानेके लिए यहा आया हू और गोवर खानेमे चूर हू। मुझे ज्यादा वोलनेकी फुरसत नही है।' कलाकद, गुड आदिपर मक्खिया बैठती है, सो क्या प्रेमके कारण ? उसी तरह शहरोमे मक्खियोके समान जो आदमी भिनभिनाते रहते है, चीटियोकी नाई जिनका ताता लगा रहता है, वह क्या प्रेमके लिए ? शहरमे स्वार्थ और लोभ है। गाव प्रेमसे वनता है। गावमे आग लग जाय, तो सव लोग अपना-अपना काम छोडकर दौड आयगे। घरमे कोई बैठा थोडे ही रहेगा ? लेकिन बबईमे क्या दशा होगी ? सव कोई कहेगे 'पानीका वम्वा जायगा, मुझे अपना काम है।' इसीलिए एक कवि ने कहा है—गावोको ईश्वर वनाता है और शहरोको मनुष्य।'

हमारे वाप-दादा गावोमे रहते थे। आज तो हर कोई शहरमे जाता है। वहा क्या धरा है ? पीले पत्थर है और धूल है। यथार्थ लक्ष्मी देहातमे है। पेडोमे फल लगते है। खेतोमे गेहू होता है, गन्ना होता है। यही सच्ची लक्ष्मी है। यह सच्ची लक्ष्मी बेचकर सफेद या पीले पत्थर मत लो। तुम शहर जाकर वहासे सस्ती चीजे लाते हो। लेकिन सभी ऐसा करने लगे, तो देहात वीरान दिखाई देगे। अगर देहातोको सुखी देखना है, तो शहरके वाजारको छोडो। गावकी चीजे खरीदो। जो चीज गावमे वन ही न सकती हो, वह अलवत्ते वाहरसे लाओ। वाहरसे लानेमे भी, अगर वह दूसरे गावमे होती हो, तो वहासे लाओ। मान लो यहा चूडिया नही होती, तो सोनगीरसे लाओ। यहा अच्छे लोटे नही वनते, तो सोनगीरसे लो। यहा रगरेज न हो, तो मालपुरसे रगाकर मगाओ। मालपुरका रगरेज तुम्हारे यहासे गुड लेकर जायगा, तुम उसके यहासे कपडे रगवाओ। तुम्हारे गावमे जो चीजे न वनती हो, उनके लिए दूसरे गाव खोजो। शहरमे कोई चीज खरीदने जाओ तो पहले यह सवाल पूछो कि क्या यह चीज देहातमे वनी है ?—हाथकी वनी हुई है ? पहले उन चीजोको पसंद करो। जहातक हो सके, यन्त्रोमे वना हुआ शहरका माल निषिद्ध मानो।

तुम्हारी ग्राम-पचायतोको यह काम अपने जिम्मे लेने चाहिए। गावके झगडे-टटे तय करने का काम तो पचायतोका है ही। लेकिन गावसे कौन-कौन-सी चीजे बाहर जाती है, कौन-कौन-सी बाहरसे आती है, इसका ध्यान भी पचायतको

रखना चाहिए। नाका बनाकर फेहरिस्त बनानी चाहिए। बादमे, ये चीजे बाहरसे क्यो आती है, इसकी जाच-पडताल करके उन्हे गावमे ही बनवानेकी कोशिश करनी चाहिए। बुनकर नही है ? दूसरे गावको दो लडके सीखनेके लिए भेज देगे। हरएकको यह सकल्प कर लेना चाहिए कि गावकी ही चीज खरीदूगा। जो चीज मेरे गावमे न बनती हो, उसे वही बनवानेकी कोशिश करूगा। गावके नेताओको इसकी तरफ ध्यान देना चाहिए। 'कैसे होगा ? क्या होगा ?' —न कहो। उठो, काम शुरू कर दो, चट-से सब हो जायगा। फिर तुम ही चीजोके दाम ठहराओगे। तेली तेल किस भाव बेचे, चमार जूता कितनेमे बना दे, बुनकरकी बुनाई क्या हो ?—सब-कुछ तुम तय करोगे। जब सभी एक-दूसरेकी चीजे खरीदने लगेगे तो सब सस्ता-ही-सस्ता होगा। 'सस्ता' और 'महगा' ये शब्द ही नही रहेगे।

बतलाओ, तुम्हारे यहा क्या-क्या नही हो सकता ? एक, नमक नही हो सकता। ठीक, नमक लाओ बाजारसे। दो, मिट्टीका तेल। दरअसल तो मिट्टीके तेलकी जरूरत नही होनी चाहिए। परतु उसके बिना काम ही न चलता हो तो खरीदो। तीसरी चीज, मसाले। मिर्च तो यहा होती ही है। दरअसल तो मिर्च भी बद कर देनी चाहिए। मिर्चकी शरीरको जरूरत नही है। दियासलाई खरीदनी पडेगी। कुछ औजार खरीदने पडेगे। दूसरा कोई चारा नही है। ये चीजे खरीदो। मिट्टीका तेल धीरे-धीरे कम करो। उसके बदले अडीका तेल काममे लाओ।

परतु इनके सिवा बाकी सारी चीजे गावमे ही बनाओ। खादी गावमे बननी चाहिए। खादीके कपडेके लिए सूतके बटन भी यही बन सकते है। उन दूसरे बटनो की क्या जरूरत है ? अगर छातीपर वे बटन न हो तो क्या प्राण छटपटायेगे ? ऐसी बात तो नही है। तो फिर उन्हे फेक दो। इस कठीकी क्या जरूरत है ? उसके बिना चल नही सकता ? ऐसी अनावश्यक चीजे गावमे लाओगे तो ये कठिया पैरोको जजीरकी तरह जकडेगी या फासीकी रस्सीकी तरह गला घोट देगी। बाहरसे ऐसी कठिया लाकर अपने शरीरको मत सजाओ। भगवान श्रीकृष्ण कैसे सजता था ? वह क्या बाहरसे कठिया लाता था ? वृदावनमे मोरोके जो पख गिर जाते थे, उन्हीसे वह अपना शरीर सजाता था। पख उखाड-कर नही लाता था। वह मोरके पखसे सजता था, सो क्या सिडी हो गया था ?

क्या पागल हो गया था ? 'मेरे गावके मोर है, उनके पखोसे मै अपने शरीरको सजाऊ तो कोई हर्ज नही है। इसमे उन मोरोकी भी पूजा है'—ऐसी भावना से वह मोरमुकुट लगाता था। और गलेमे क्या पहनता था ?—वनमाला। मेरी यमुनाके तीरके फूल—वे सबको मिलते है। गरीबोको मिलते है, अमीरोको मिलते है। वह स्वदेशी वनमाला, देहातकी वनमाला, गलेमे पहनता था। और बजाता क्या था ? मुरली। देहातके बासकी बासुरी—वह अलगोजा। यही उसका वाद्य था।

हमारे एक मित्र जर्मनी गये थे। वह वहाका एक प्रसग सुनाते थे। "हम सब विद्यार्थी इकट्ठे हुए थे। फरासीसी, जर्मन, अग्रेज, जापानी, रूसी, सब एकसाथ बैठे थे। सबने अपने-अपने देशके राष्ट्रीय वाद्य बजाकर दिखाये। फरासीसियोने वायोलिन बजाया, अग्रेजोने अपना वाद्य बजाया। मुझसे कहा गया, 'तुम हिंदुस्तानी वाद्य सुनाओ।' मै चुपचाप बैठा रहा। वे मुझसे पूछने लगे, 'तुम्हारा भारतीय वाद्य कौनसा है' ? मै उन्हे बता नही सका।"

मैने तुरत अपने उस मित्रसे कहा, "अजी, हमारा राष्ट्रीय वाद्य बासुरी है। लाखों गावोमे वह पाई जाती है। सीधी-सादी और मीठी। कृष्ण-भगवान्-ने उसे पुनीत किया है। एक बासकी नली ले ली, उसमे छेद बना लिये, बस वाद्य तैयार हो गया।"

ऐसा वाद्य श्रीकृष्ण बजाता था। वह गोकुलका स्वदेशी देहाती वाद्य था। अच्छा, श्रीकृष्ण खाता क्या था ? बाहरकी चीनी लाकर खाता था ? वह अपने गोकुल की मक्खन मलाई खाता था। दूसरोको खाना खिलाता था। ग्वालिने गोकुलकी यह लक्ष्मी मथुराको ले जाती थी। परतु गावकी इस अन्नपूर्णाको कन्हैया बाहर नही जाने देता था। वह उसे लूटकर सबको बाट देता था। सारे गोकुलके बालक उसने हृष्टपुष्ट किये। जिन्होने गोकुलपर चढाई की, उनके दात उसने अपने मित्रोकी मददसे खट्टे किये। गोकुलमे रहकर भी वह क्या करता था ? गायें चराता था। उसने दावानल निगल लिया, याने क्या किया ? देहातोको जलानेवाले लडाई-झगडोका खातमा किया। सब लडकोको इकट्ठा किया। प्रेम बढाया। इस तरह यह श्रीकृष्ण गोपालकृष्ण है। वह तुम्हारे गावका आदर्श है। गोपालकृष्णने गावोका वैभव बढाया, गायो-की सेवा की, गावोपर प्रेम किया, गांवोंके पशु-पक्षी, गावकी नदी, गावका गोवर्धन-

पर्वत—इन सबपर उसने प्रेम किया। गाय ही उसका देवता था। आगे चलकर वह द्वारकाधीश बने। लेकिन फिर भी गोकुलमें आते थे, फिर गायें चराते थे, गोबरमें हाथ डालते थे, गोशाला बुहारते थे, वनमाला पहनते थे, बंसी बजाते थे, लड़कोंके साथ, गोपबालोंके साथ, खेलते थे। 'ब्रजकिशोर' उनका प्यारा नाम था। 'गोपाल' उनका प्यारा नाम था। उन्होंने गोकुलमें असीम आनंद और सुख पैदा किया।

गोकुलका सुख असीम था। ऐसे गोकुलके अन्नके चार कणोंके लिए देवता तरसते थे। प्रेममस्त गोपालबाल जब भोजन करके दही और 'गोपाल'-कलेवा खाकर यमुनाके जलमें हाथ धोने जाते थे, तब देवता मछली बनकर वे जूठे अन्नकण खाते थे। उनके स्वर्गमें वह प्रेम था क्या? उन देवताओंको पैसेकी कमी नहीं थी। लेकिन उनके पास प्रेम नहीं था। हमारे शहर आपके स्वर्ग हैं न? अरे भाई, वहां प्रेम नहीं है। वहां भोग है, पैसे हैं परन्तु आनंद नहीं है। अपने गांवोंको गोकुलके समान बनाओ। तब वे शहरके नगरसेठ तुम्हारे गांवकी नमक-रोटीके लिए लालायित होकर दौड़ते आयगे। हमें देहातोंको हराभरा गोकुल बनाना है—स्वाश्रयी, स्वावलंबी, आरोग्यसंपन्न, उद्योगशील, प्रेमल। ईखका कोल्हू चल रहा है, चरखा चल रहा है, धुनिया धुन रहा है, तेलका कोल्हू चूं-चर्र बोल रहा है, कुएपर मोट चल रही है, चमार जूता बना रहा है, गोपाल गायें चरा रहा है और बंसी बजा रहा है—ऐसा गांव बनने दो। अपनी गलतीसे हमने गांवोंको मरघट बनाया। आइए, अब फिर उसको गोकुल बनायें।

ही दुनिया दिखाई देने लगेगी। समृद्धि और आनद दिखाई देने लगेंगे।

हमने ब्याह-शादीकी बातका विचार किया। बाजारके सवालका विचार किया। अब, पहले व्यसनोंकी बात लेता हू। अपने वशकी बाते पहले ले ले। बादमे सरकार और साहूकारकी बात सोच लेगे।

कोई दिनभर फू-फू बीडी ही फूकते रहते है। कहते है, 'बीडिया तो घरकी ही है। वे बाहरसे नही आती'। अरे भाई, जहर अगर घरका हो तो क्या खा लोगे? घरका जहर खाकर पूरी सोलह आने स्वदेशी मृत्युको स्वीकार करोगे? जहर चाहे घरका हो या बाहर का, त्याज्य ही है। उसी तरह सभी व्यसन बुरे है। उन सबको छोडना चाहिए। वे प्राणघातक है। शराबके बारेमे कहोगे, तो पहले महाराष्ट्रमे शराब नही थी। महाराष्ट्रका पहला गवर्नर एलफिस्टन साहब था। उसने महाराष्ट्रका इतिहास लिखा है। उसमे वह कहता है—"पेशवोके राजमे शराबसे आमदनी नही थी"। लेकिन आज तो गाव-गावमे पियक्कड है। सरकार उलटे उन्हे सुभीता कर देती है। लेकिन सरकार सुविधा कर देती है, इसलिए क्या हम शराब पीये? हिंदुस्तानमे दो मुख्य धर्म है—हिंदू धर्म और इस्लाम। इन दोनो धर्मोमे शराब पीना महान् पाप माना गया है। इस्लाममे शराब हराम है। हिंदू-धर्ममे शराबकी गिनती पच महापातकोमे होती है। शराब पीकर आखिर हम क्या साधते है? प्राणोका, कुटुबका, धनका और इन सबसे प्रिय धर्मका—सभी चीजोका नाश होता है।

बीडी और शराबके बाद तीसरा व्यसन है बात-बातमे तकरार करना। कृष्णने झगडोके दावानल निगल लिये। तकरार मत करो। और अगर झगडा हो ही जाय तो गावके चार भले आदमी बैठकर उसका तस्फिया करो। अदालतकी शरण न लो। अदालते तुम्हारे गावोमे ही चाहिए। जिस प्रकार और चीजे गावकी ही हो, उसी प्रकार न्याय भी गावका ही हो। तुम्हारे खेतोमे सब कुछ पैदा होता है। लेकिन न्याय तुम्हारे गावमे पैदा न होता हो तो कैसे काम चलेगा? गावका धान्य, गावका वस्त्र और गावका ही न्याय हो। बाहरकी कचहरी-अदालते किस कामकी? चीजोके लिए जिस तरह हम परावलबी नही होगे, उसी तरह न्यायके लिए भी नही होगे। प्रेमसे रहो। दूसरेको थोडा-बहुत अधिक मिल जाय, तो भी वह गावमे ही रहेगा। लेकिन दूर चला जानेपर, न हमे मिलेगा, न तुम्हे मिलेगा, सारा भाडमे जायगा। गांवमे ही पचोंमे परमेश्वर है। उसकी शरण लो।

भोजन वगैरा दीगर बातोकी ऊहापोह यहा नही करता। जीवन निर्मल और विचारमय बनाओ। हरएक काम विवेक-विचारसे करो।

चौथी बात साहूकारकी है। तुम ही अपने घर कपास लोढकर बीजके लायक बिनौले सभालकर रख लोगे, घरमे ही कपडा बना लोगे, मूगफली, अलसी, घरमे रखकर गावके कोल्हूसे तेल निकलवा लोगे, अदालत-इजलासमे जाना बद कर दोगे, गावमे ही सारे झगडे तय कर लोगे और मेरे बतलाये ढगसे व्याह-शादिया करोगे तो साहूकारकी जरूरत बहुत कम पडेगी। लेकिन तिसपर भी सभी लोग साहूकारके पाशसे छुटकारा नही पायेगे। कर्जदार फिर भी रहेगे। लेकिन कर्जकी तादाद कम हो जायगी।

तुम्हारी कर्जदारीका सवाल स्वराज्यके बिना पूरी तरह हल नही होगा। स्वराज्यमे सबके हिसाब जाचे जायगे। जिस साहूकारको मूलधनके बराबर ब्याज मिल चुका होगा, उसका कर्ज अदा हो चुका ऐसा घोषित किया जायगा। जिस साहूकारका मूलधन भी न मिला हो, सूदके रूपमे भी न मिला हो, उससे समझौता करेगे। इसी तरहके उपायसे वह सवाल हल करना होगा। तटस्थ पच मुकर्रर करके तहकीकातके बाद जो उचित होगा, किया जायगा। तबतक आजके बतलाये उपायोसे काम लेना चाहिए और धीरे-धीरे साहूकारसे दूर रहनेकी कोशिश करनी चाहिए। परतु कर्ज चुकानेके फेरमे बाल-बच्चोकी उपेक्षा न करो। बच्चोको दूध-घी दो। भरपूर भोजन दो। लडके सारे समाजके है। मै अपने साहूकारसे कहूगा, "मै अपने बच्चोको थोडा दूध दू ? उन्हे दूधकी जरूरत है।" बच्चे जितने मेरे है, उतने ही साहूकारके भी है। वे सारे देशके है। लडकोको देनेमे तुम साहूकारको ही देते हो। इसलिए पहले भरपेट खाओ, बालबच्चोको खिलाओ। घरकी हाजते पूरी होने पर कुछ बकाया रहे, तो जाकर दे दो। कर्ज तो देना ही है। खा-पीकर देना है।, भोग-विलासके बाद नही। 'कुछ बचा तो ला दूगा'—साहूकारसे कह दो।

इस तरह चार बाते बतलाई। गावकी लक्ष्मीके बाहर जानेके चार दरवाजे बताये और उन्हे बद करनेके उपायोकी दिशा भी बताई। अब पाचवी बात सरकार है। यह सरकार कैसे बद की जाय ? तुम अपनी चीजे बनाने लगो, अपने गावमें बनाने लगो, तो सरकार अपने आप सीधी हो जायगी। सरकार यहा क्यो रहती है ? विलायतका माल आसानीसे तुम बेवकूफोके हाथ बिक सकता है,

इसलिए। कल बुद्धिमान बनकर अगर अपने गाव स्वावलबी बनाओगे, तो सरकार अपने-आप नरम हो जायगी। जिस चीजकी जरूरत हो उसे गावमे ही बनाओ। जो इस गावमे न बन सके उसे दूसरे गावसे लाओ। शहरके कारखानोका बहिष्कार करो। विदेशी चीजोंकी तो बात ही कौन पूछता है? विदेशी और स्वदेशी कारखानोको तुम अपने गावसे जो खाद्य पहुचाते हो, उसे बद करो। आपसमें एकता करो। लडना-झगडना छोड दो। अगर लडो भी तो गाव हीमे फैसला कर लो। कचहरी-अदालतका मुह न देखनेका सकल्प करो। गावकी ही चीजे, गावका ही न्याय। अगर ऐसा करोगे तो एक पथ दो काज होगे। दरिद्रताका कष्ट दूर होगा और सरकार अतर्धान हो जायगी। तुम इस तरह स्वावलबी, निर्व्यसनी, उद्यमी और हिलमिलकर रहनेवाले बनो, तब सरकार तुम्हारे हक दिये बिना रह ही नही सकती। तुम्हारी इतनी ताकत बढनेपर भी अगर सरकार तुम्हारे हक न देगी, तो फिर सत्याग्रह तो है ही। उस हालतमे जो सत्याग्रह होगा, वह ऐसा पचास-साठ हजारका टुटपूजिया सत्याग्रह नही होगा। उसमे तो पचास-साठ लाख लोग शरीक होगे।

तुम लगानके रूपमे दस हजार रुपया देते हो। लेकिन कपडोके लिए पच्चीस हजार देते हो। अब, मान लो कि यह सरकार यहासे जल्दी नही टलती। उसका लगान कम नही होता। स्वराज्य मिलनेपर कम करेगे। लेकिन वह पराक्रम जब होगा तब होगा। फिर भी अगर कपडा गावमें ही बनानेका सकल्प कर ले, तो क्या होगा? हरएकको तीन सेर रूईकी जरूरत होगी। हर कुटुबमे अगर पाच आदमी हो, तो पद्रह सेर रूई हुई। बोनेके लिए जितने बिनौलोकी जरूरत हो, उतनी बढिया कपास खेतसे बीनकर घरपर ही लोढो। बढिया बिनौले मिलेगे। जो रूई होगी उसमेंसे अपने परिवारके कपडोके लिए आवश्यकतानुसार रख लो और बाकीकी बेच दो। फी आदमी पक्की तीन सेर रूईके दाम सवा रुपया होगे। बत्तीस सौ आदमियोको चार-पाच हजारकी रूई रखनी होगी। कपडा पच्चीस हजारका होगा। उसमेंसे पाच हजार घटा दीजिए, तो बीस हजार गावमें रहेगे। सरकार लगानके दस हजार ले जायगी। लेकिन तुम बीस हजार बचाओगे। इसीलिए गाधी कहते है कि खादी ही स्वराज्य है। अकेली खादीकी बदौलत बीस हजार रुपये गावमे रह गये। कल स्वराज्य मिल जाय तो क्या होगा? लगान आधा याने दस हजारका पाच हजार, हो जायगा। याने तुम्हारे पाच

हजार रुपये बचेगे। लेकिन खादी बरतनेसे बीस हजार बचेगे। इसलिए वास्तविक स्वराज्य किस वस्तुमे है यह जानो।

पहले दूसरे कई राज्य हुए तो भी देहातका यह वास्तविक स्वराज्य कभी नष्ट नही हुआ था। इसीलिए हमे रोटियोके लाले नही पडे। परतु इस राज्यमे यह खादीका स्वराज्य, देहाती उद्योग-धधोका स्वराज्य, नष्ट हो गया है। इसीलिए देहात वीरान और डरावने दिखाई देने लगे। इग्लैडका मुख्य आधार कर या किसान नही है, बल्कि करोडो रुपयोका व्यापार है। लगानके रूपमे उसे दस हजार ही मिलेगे। लेकिन तुम्हे कपडा बेचकर वह बीस हजार ले जायगा। शक्कर, घासलेट वगैरा सैकडो ऐसी ही चीजे है। इसलिए वास्तविक स्वराज्यको पहचानो। हम सरकारको अपने पराक्रमसे कब निकाल सकेगे, सो देखा जायगा। परतु तबतक मेरे बतलाये उपायोसे अपने गाव स्वावलबी, उद्यमी, प्रेममय बनाओ। इसीमे सब कुछ है।[1]

(महाराष्ट्र धर्मसे सर्वोदय, दिसबर, १९४१)

: ९ :

आत्माकी भाषा

मै पहले-पहल मद्रास आया हू। मुझे इस वक्त यहा आनेका खयाल भी नही था। आप लोग जानते है कि मै जेल-यात्री हू। तीसरी बार मै जेल हो आया हू और सरकारके हिसाबसे मै पक्का कैदी बन गया हू। फिर भी ये क्रिसमसके दिन है और क्रिसमसके दिनोमे सत्याग्रह स्थगित रखनेकी हमारी नीति है। लडनेवाले सबके सब यूरोपियन राष्ट्र ईसाई है। जापान अभी लडाईमे उतरा है। उसे छोडकर बाकीके सब राष्ट्र ईसाई होनेपर भी क्रिसमसके दिनोमे लडाई बद नही रखते। अहिसा धर्मको माननेवाले इसका खयालकर कम-से-कम क्रिसमसके

---

[1] कसारा (खानदेश)मे दिया गया एक भाषण।

दिनोमे सत्याग्रह स्थगित करते है। फिलहाल वर्किंग कमेटी विचार कर रही है, इस बीच मुझे आपके सामने आनेका मौका मिल गया है अन्यथा, मै शातिसे नागपुर-जेलमे होता।

प्यारे भाइयो, आपको देखकर मुझे अत्यत आनद हुआ है, खासकर विद्यार्थियोके सामने होनेपर मेरा हृदय समुद्रकी तरह उमडता है। इसका कारण यह है कि मै अभीतक विद्यार्थी रहा हू, आगे भी ऐसा ही बना रहनेकी उम्मीद है।

आपसे एक वातके लिए मुझे क्षमा मागनी चाहिए। पदवी-दान समारभके अवसरपर पहले लिखकर लाने, और अवसरपर उसे दुहरा देनेका एक रिवाज-सा हो गया है। मै ऐसा नही कर सका। मै निर्गुण भक्तिसे सगुण भक्तिकी ओर कुछ विशेप ध्यान रखता हू। उसकी ओर मेरा विशेष आकर्पण है। मैने सत्यनारायणजीसे कहा कि विद्यार्थियोके चेहरे देखने अर्थात् सगुण और साकार दर्शनके वाद ही मुझे कुछ वोलना सूझेगा, पहले नही। इसलिए वह रिवाज तोडकर वोल रहा हू। जिस काममे हम पडे है वह महान् कार्य है। उसकी महत्ता क्या है, उस विषयमे हमे क्या करना है, इसकी कुछ रूप-रेखा मै आप लोगोके सामने रखनेवाला हू। मै दक्षिण भारतमे एक विशेप भक्तिभाव लेकर आया हू, यानी दक्षिणवासियोके प्रति मेरे मनमे पूज्य भाव है। मैने भागवतमे पढा है कि जव पृथ्वीके अन्य स्थानोसे मानवता और भक्तिका लोप हो जायगा, तव भी द्राविडमें वह मानवता और भक्ति कायम रहेगी। मुझे भविष्यवाणी करना नही आता। अगर मै भविष्यवाणी करना चाहू तो मै कहूगा कि दुनियामे दिन-व-दिन भक्ति वढेगी। यद्यपि फिलहाल चलनेवाले युद्धसे वात उल्टी दिखाई दे रही है।

हम जानते है कि दुनियाका पहला ग्रथ ऋग्वेद है। इसके पहलेका कोई लिखित ग्रथ हमको अवतक नही मिला। इसलिए ऋग्वेद ही हमारे लिए एक वहुत प्राचीन प्रामाणिक वस्तुके रूपमे है। मै देख रहा हू कि हिंदुस्तानकी एकताका खयाल ऋग्वेदमे भी मौजूद है। ऋग्वेदका एक मत्र कहता है कि इस देशमे दो तरफसे—दो वाजुओसे दो हवाए वह रही है। एक समुद्रकी तरफसे आती है और दूसरी परावर्त्तकी तरफसे। जिस समुद्रकी तरफसे हवा आती है उसको हम हिंद महासागर कहते है। मै देख रहा हू कि हिमालयकी गहन गुफाओसे एक हवा आती है और दूसरी सिंधुसे वहती है। इस ख्यालमे हिंदुस्तान समुद्रसे

लेकर हिमालयतक एक है। इसका आध्यात्मिक अर्थ भी है। हम जो श्वासोछ्वास लेते है उसकी उपमा वे ऋषि दे रहे है। वे कहते है कि प्राणायाम करनेवाले योगी अदर एक हवा लेते है और वाहर दूसरी हवा छोडते है। जैसे योगीके अदरकी गुफा और वाहरका अतरिक्ष दो भाग है वैसे ही भारतका हिमालय और समुद्र है। भारत भूमि भी इसी तरह प्राणायाम कर रही है। हिमालयसे वायु छोडती है और समुद्रसे लेती है। अब जो अर्थ निकला उससे यह साफ है कि हिंदुस्तानकी एकता अभीकी नही है बल्कि हजारो वर्ष पहलेकी है। रामायणमे एक स्थानपर वाल्मीकिने रामचद्रजीको समुद्रके समान गभीर और पर्वतके समान स्थिर कहा है। उन्होने श्रीरामचद्रजीको एक राष्ट्र-पुरुषके रूपमे चित्रित किया है। हजारो वरस पहले ही जब पारस्परिक सबधके कुछ साधन नही थे तभी हमारे पूर्वजोने इस भूमिको एक विशाल राष्ट्र मान लिया था। इतने विशाल देशको एक मानना इस जमानेके लिए कोई नई वात नही है।

आजके यूरोपके युद्ध जैसे अनेक युद्धोका प्रयोग यहा हो चुका है और हिंदुस्तानके लोगोने उससे सीखा भी है। मै उम्मीद करता हू, यूरोपवाले भी इस युद्धके बाद देखेगे कि यूरोपको एक राष्ट्र मानना अच्छा है। हमारी पुरानी एकताका साधन क्या था? हमारी सस्कृत भाषा। उस समय हमारी भाषा सस्कृत थी। अब सस्कृतके अनेक अग वन गये और अलग-अलग भाषाए वन गई। अलग-अलग सूबोमे अलग-अलग भाषाका प्रयोग होने लगा। इतना होते हुए भी जो लोग राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे वह सस्कृतमे वोलते और लिखते थे। आप देखेगे कि केरल मे पैदा हुए शकराचार्यजीने दक्षिणसे हिमालयतक अपने अद्वैतका प्रचार सस्कृत द्वारा किया, जब मलावारकी भाषा दूसरी थी। कारण, वह उस वक्त भी राष्ट्रीयताका खयाल रखते थे। सवाल उठता है कि अपने अद्वैतके प्रचार करनेके लिए उन्हे हिंदुस्तानभरमे घूमनेकी क्या जरूरत थी। अद्वैतकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो उनका अद्वैत जहा उनका जन्म हुआ था वहीपर पूर्णतया प्रकट हो सकता था। उनको घूमनेकी जरूरत क्या पडी? एक और वात यह है कि वह हिंदुस्तानके वाहर नही गये। इस तरहसे आप समझेंगे कि उन्होने एक राष्ट्रीयताका खयाल करके अपने अद्वैतका प्रचार सिंधुसे लेकर परावर्त्ततक किया। लेकिन उनमे भी एक मर्यादा थी। उन्होने आम लोगोकी भाषा छोडकर सिर्फ सस्कृतमे ग्रथ लिखे। उनके वादके भतोको लाचार होकर आम लोगोकी भाषामे लिखना पडा और

संस्कृतको छोडना पडा। अलग-अलग भाषाओमे अलग-अलग ग्रंथ लिखे जाने लगे। अलग-अलग भाषा हो जानेके कारण प्रांतीयताका भाव पैदा होने लगा। इसका नतीजा हुआ कि अंग्रेजोने लश्करके दो विभाग किये—दक्षिणी हिस्सा और उत्तरी हिस्सा। उन्होने देखा कि उत्तरवाले दक्षिणकी भाषा नही समझते और दक्षिणवाले उत्तरकी भाषा नही समझते। अगर दक्षिणमे बलवा हुआ तो उत्तरी सेना यहापर काम देगी। यह आपको कोई काल्पनिक बात नही बता रहा हू। १८५७के बलवेको मैं भारतीय स्वातंत्र्यका सग्राम मानता हू। उसको दबानेके लिए मद्राससे सेना भेजी गई थी। यद्यपि भारत हजारो सालसे एकत्र रहा फिर भी बादको भाषाका सबध टूट गया और अंग्रेजोने इसका फायदा उठाया। गाधीजीने देखा कि अगर हम एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं और अपने प्राचीनतम राष्ट्रको (जो हिमालयसे सिंधुतक फैला है) ताकतवर बनाना चाहते है तो एक राष्ट्रभाषाकी सख्त जरूरत है। अब सस्कृत राष्ट्रभाषा नही हो सकती। इसलिए अभी हिंदुस्तानमे जो प्रचलित भाषा है उसका अभ्यास सबको करना होगा। इसलिए गाधीजीने हिंदी भाषाको सबके सामने रक्खा कि सब उसका अभ्यास करे। अब वस्तु-स्थिति यह है कि जब हिंदुस्तानमे कांग्रेसका जन्म हुआ तब शुरू-शुरूमे आपसके व्यवहारके लिए अंग्रेजी काममे लाई गई। इस तरह हमारे पढे-लिखे आदमी अंग्रेजी भाषाका उपकार मानते थे और शुरू-शुरूमे अंग्रेजीसे काम चलाते थे। लेकिन किसीको यह न सूझा कि सबके लिए अंग्रेजी सीखना मुश्किल है। वह हिंदुस्तानकी राष्ट्रभाषा नही हो सकती। यह बात सिर्फ गाधी-जीको सूझी।

जैसे हिंदीमे तुलसी रामायण लिखी गई है, वैसे ही तमिलमे या बंगलामे क्या सौ बरसके अंदर कोई ऐसा उत्तम ग्रंथ लिखा गया है जो गाव-गावमें फैला हो? प्राचीन जमानेमें ऐसा कोई साधन नही था जैसा हमारे यहा अब है। जैसे प्रिंटिंग प्रेस। प्रिंटिंग प्रेस जैसे महान् प्रचारकके होते हुए भी ऐसा क्यो नही हुआ? मैं तामिल नही जानता। लेकिन मेरे भाइयोने बताया है कि ऐसा कोई ग्रंथ नही जिसका प्रचार देहाततक हुआ हो। बहुतसे प्रकाशक मुझसे मिल चुके है। और मैं उनसे पूछ आया हू कि आप प्रकाशक है या अप्रकाशक? पुराने जमानेमे जब कोई पुस्तक लिखता था तो उसको लेकर घूम-घूमकर उसका प्रचार भी करता था। मगर आज हम मान बैठे है कि प्रिंटिंग-प्रेससे हमारा काम बन

गया। तुलसी-रामायणने जनताकी सच्ची सेवा की है। नागपुरमे जब मुझे तुलसी-रामायण कहनेका मौका मिला तो एक बातपर मेरा ध्यान गया। आजकल छोटे बच्चोको (जो प्रारभिक शिक्षा पाते है) अक्षर सिखानेके लिए ऐसा पाठ लिखा जाता है जिसमे सयुक्ताक्षर नही होते। नागरी और बगलामे सयुक्ताक्षरका प्रचार है। इसलिए वहा जो विना सयुक्ताक्षरके लिखा जाता है, वह कुछ कृत्रिम-सा बन जाता है। लेकिन तुलसी-रामायणमे ५० सैंकडे शब्द ऐसे मिलेगे जिनमे एक भी सयुक्ताक्षर नही है। यह तुलसीदासकी विशेषता है। उत्तर भारतमे श, ष, स का उच्चारण एक ही तरह किया जाता है। लिखेगे अलग-अलग, पर उच्चारण करेगे एक ही ढगसे। तुलसीदास सस्कृतके प्रकाड विद्वान् थे, परतु वह लोगोको उठानेके लिए स्वय झुके, जैसे माता झुककर अपने बच्चेको उठा लेती है। पर आजकलके हमारे पब्लिशर लोग क्या करते है?

हम लोग गुलाम बन गये और गुलामीको प्यार भी करने लगे। अब अभिमान भी करते है। आप देखेगे कि हमारी भाषा और देहाती भाषामे अतर पड रहा है। हमारे ग्रथ आम जनतातक नही पहुच सकते। सतोने देखा कि हमको देहाती भाषामे बोलना और लिखना चाहिए। गाधीजीने देखा कि जबतक अग्रेजी भाषामें सोचते रहेगे, तबतक हम गुलाम ही रहेगे। मै मानता हू कि अग्रेजीसे हमारा कुछ फायदा हो सकता है। लेकिन अग्रेजी भाषा और हमारी भाषामे बडा फर्क है। हम लोग कहते है 'आत्म-रक्षा'। आत्माके मानी शरीर नही है। पर अग्रेजीमे आत्म-रक्षा है 'सेल्फ-डिफेस'। हरेक भाषामे उसका अपना-अपना स्वतत्र-भाव रहता है। जबतक हम अग्रेजी द्वारा ही सोचते रहेगे, तबतक हममे स्वतत्र-भाव पैदा नही होगा, यह गाधीजीने देखा। लोग समझते है कि अग्रेजीसे ही हमे ज्ञान मिलता है। अगर किसी देशके बारेमे जानकारी प्राप्त करनी हो तो अग्रेजी पुस्तक पढना पर्याप्त समझते है। अग्रेजी-नेत्र द्वारा ही सभी बातोको देखते है और खुद अधे बनते है। अबतक हमने प्रत्यक्ष परिचय नही पाया है। अग्रेजी किताबो द्वारा ही ज्ञान सपादन करते आये है। अग्रेजी भाषाके कारण हम पुरुषार्थ-हीन हो गये है। यहा ऐसा मैने सुना कि दो श्रेणी पढनेके बाद बच्चोको अग्रेजी सिखाई जाती है। वर्धाकी शिक्षा-योजनाके अनुसार हमने ७ बरसकी पढाईमे अग्रेजीको बिलकुल स्थान नही दिया है। क्योकि हम मातृभाषाको पहले स्थान देना चाहते है और उसी माध्यम द्वारा सभी विषय

पढाना चाहते हैं। अंग्रेजी भाषा द्वारा जब हम कोई बात समझते हैं तो वह अस्पष्ट होती है। मैंने देखा है कि एक अनपढ किसानका दिमाग साफ रहता है, पर एक एम० ए०का दिमाग साफ नही होता। इसका कारण यह है कि एम० ए० जितना विषय सीखता है सब-का-सब पराई भाषाके द्वारा सीखता है। बच्चा पहले मातृभाषामे सीखता है। यह सब गाधीजीने देखा और यह सोचकर कि राष्ट्रभाषा बननेसे कम-से-कम १० करोड लोग अपनी भाषाको अच्छी तरह सीख पायेगे, हिदीको राष्ट्रभाषाका रूप दिया। २३ सालोमे, मैंने सुना है कि दक्षिणमे करीब १२ लाख लोग हिदी सीख चुके है।

आजकल हिदी, हिंदुस्तानी और उर्दूका झगडा है। मुझसे जब कोई पूछता है कि आप हिंदीको चाहते है, हिंदुस्तानीको या उर्दूको ? तो मैं उनसे पूछता हू कि आप 'माता'को चाहते है या 'मा'को ? मुझे हिंदुस्तानी और उर्दूमे फर्क नही मालूम होता। दाढी बढानेमे और उसकी हजामत करनेमे जितना फर्क है उतना ही फर्क हिदी और उर्दूमे है—बढी दाढी उर्दू है, सफाचट हिदी। क्योकि हम देखते है कि दाढी १५ दिनमे बढती है। अंग्रेजीमे मिलटन और वर्डस्वर्थकी भाषामे जितना फर्क है उतना ही फर्क हिदी और उर्दूमे है। दो-चार उर्दू शब्दो या सस्कृत शब्दोमे भाषा कभी नही बदलती। मैं मद्रासमे अब जो भाषा बोल रहा हू उसमे सस्कृत शब्दोका प्रयोग कर रहा हू। अगर मैं पजाब गया तो उर्दू शब्दोका, जो मैं जानता हू, इस्तेमाल करूगा। अतएव आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दूमे कुछ भी फर्क न करे। उनमे फर्क नही है। हिंदी और उर्दूमे जो बैलेन्स लाया गया है वह है हिंदुस्तानी। आपको मालूम है, गाधीजी 'बैलेन्स्ड डायट'के हिमायती है और उन्होने इसको हिंदुस्तानी नाम दिया है। आप इन झगडोमे मत पडिये। जिस झगडेमे कोई अर्थ नही उस झगडेमें पडनेसे फायदा ही क्या ?

और एक बात मुझे कहनी है। आप जिस कार्यमे लगे है वह युद्ध-विरोधी कार्य है। आज जो युद्ध चल रहा है वह दुनियामे केवल द्वेष बढानेवाला है। हिंदीका प्रचार प्रेमका प्रचार है। इसलिए मैं इसको युद्ध-विरोधी प्रचार मानता हू। अगर कोई हिंदुस्तानी बच्चेसे पूछे कि तुम्हारे कितने भाई है तो उसको कहना चाहिए—"हम चालीस करोड है।" आजकल हममे प्रातीय झगडा भी है। एक प्रातकी सीमापर दो तरहके लोग रहते है और वे झगडते है कि अमुक

स्थान हमारा है। अगर कोई मुझसे यहा पूछे कि डैन्जिग कहा है तो मैं कहूगा डैनजिग वहीपर है जहा वह खडा है। हिंदुस्तानमे अनेक भाषाओको और अनेक धर्मोंको रहना है। इसलिए अगर यहा ऐसे छोटे-मोटे झगडे हुए तो हिदुस्तान जैसा बदनसीब कोई देश नही होगा। हम सब एक है, यह भाव पैदा करनेके लिए हमारे पास कोई साधन होना चाहिए। वह साधन है राष्ट्रभाषा।

राष्ट्र-भाषा प्रातीय भाषाकी जगह नही लेगी। मातृभाषाके लिए भी प्रेम की जरूरत है। पाश्चात्य लोगोसे हमने "अभिमान" शब्द सीखा है। पर इसमे देशप्रेम नही है। पेट्रियाटिज्म क्या चीज है ? वह देश-प्रेमका अपभ्रश है। राष्ट्रभाषाका अपभ्रश है पेट्रियाटिज्म। इसलिए आप लोगोको मातृभाषाका अभिमान नही, प्रेम रखना चाहिए। राष्ट्रका अभिमान नही, राष्ट्र-प्रेम रखना चाहिए। हम राष्ट्रभाषाका प्रेम चाहते है। राष्ट्रभाषाका प्रचार युद्ध-विरोधी सदेशका प्रचार है। अगर हम मानव-समाजमे प्रेम बढाना चाहते है और मानव-समाजको प्रेमकी नीवपर स्थापित करना चाहते है तो एक-दूसरेका सबध कायम रखनेके लिए रेलवे काम नही देगी, रेडियो काम नही देगा। आपके अतरात्मा-का प्रेम काम देगा। इसी प्रेमके प्रचारके लिए हिंदी प्रचार-सभा स्थापित है।

सर्वत्र आत्मा एक है। आत्माकी भाषा सर्वत्र समान होती है। जैसे दुनिया-भरका कौवा एक ही भाषा बोलता है वैसे ही दुनियामे मानव-भाषा एक है। यह हृदयके अतरतमकी भाषा है। मानव-मात्रकी एक भाषा है। जो आत्मभाव उपनिषद्मे है वह ईसप्स फेबल्समे है। लडकोको ईसप्स फेबल्स पढनेमे बडा आनद आता है। क्योकि वे आत्माको पहचानते है। आत्माकी भाषाके प्रचारमे राष्ट्र-भाषाका प्रचार पहला कदम है। आत्माकी भाषा जब समझ लेगे तब सबकी आत्माको समझेगे। स्त्री-पुरुषकी आत्मा एक है, हिंदू-मुसलमानकी आत्मा एक है। उत्तर और दक्षिणकी आत्मा एक है, इसको पहचाननेके लिए ही यह राष्ट्रभाषाका प्रचार है। मैने अपने हृदयकी बात आपके सामने रक्खी, इससे ज्यादा और कुछ कहना नही है।[1]

(हिन्दी प्रचार समाचार मद्राससे—जनवरी, '१९४२)

---

[1] द० भा० हिंदी प्रचार सभा, मद्रासके ग्यारहवें पदवीदान समारंभपर दिये गये दीक्षात भाषणकी रिपोर्ट।

: १० :

सरकारकी चुनौतीका जवाब

जब-जब मैं जन-समूहके सामने बोलने खडा होता हू, तब-तब हमेशा मेरे हृदयमे अत्यत उत्साह भरा होता है। क्योकि आप भाई-बहनोके दर्शनमे एक प्रकारकी पावनता अनुभव होती है। मगर मुझे कबूल करना चाहिए कि आज आपके सामने बोलनेमे मुझे हमेशाका-सा उत्साह अनुभूत नही होता। इसका कारण यह है कि जिस तरह हम लोगोकी रिहाई हुई है और आपके सामने बोलनेका प्रसग आया है, उसमे उत्साहका कारण नही है, उल्टे उदासीनताका कारण है। आपमेसे बहुतोको आनद होता होगा कि जेलमेसे हमारे भाई छूटकर हमारे बीचमे आगये है और हमसे मिलेगे। परतु मिलनेका आनद भी, परिस्थिति विपरीत हो, तो विलीन हो जाता है। जरा-सा विचार करके देखनेसे ध्यानमे आ जायगा कि आजका मिलना आनदका विषय नही है।

सरकारने सत्याग्रही कैदियोको छोडनेका निश्चय किया है, इसकी जडमे सद्भावना प्रतीत होती, तो वह अलग चीज होती। परतु आजतक एमरी साहबके जो व्याख्यान-प्रवचन, आये दिन सुननेको मिले, उनपर ध्यान देनेसे दूसरा ही दृश्य दिखाई देता है। हम जेलमे अपनेआप गये थे। हमारे सामने भाषण स्वातत्र्य का बडा भारी सवाल था। वह जबतक हल न हो जाय, तबतक जेलसे बाहर रहना हमारे लिए जहर-जैसा है। परतु सरकारने एक जाल बिछाया है। हमे छोडनेमे उसकी ऐसी कल्पना और इच्छा मालूम होती है कि हम लोग जो वाक् स्वतत्रताके सग्राममे सत्याग्रह करके जेलमे गये, वे बाहर आनेपर लोप हो जाय और सरकारका काम अपने-आप हो जायगा। यह सरकारने बडी चतुराईका काम किया है। हमे चाहिए कि हम इस जालमे फसकर अपनी लडाई बद न करे, बल्कि और भी तीव्र बनावे। अहिंसाके उपासकके नाते ससारमे चलनेवाली हिंसाका विरोध करनेका हमारा यह मूलभूत अधिकार और कर्तव्य जबतक सिद्ध नही होता, अर्थात् जनताके सामने हमे अपने विचार अहिंसक रूपमे आजादीसे रखनेका अधिकार नही मिल जाता, तबतक हमारा यह धर्म है कि हम अपने

अहिंसक युद्ध जारी रक्खे। जारी रखनेका यह अर्थ है कि हम उसे और भी जोरके साथ चलावे।

अधिक जोरके साथका क्या अर्थ है ? हिंसक और अहिंसक युद्धकी परिभाषामे भी अतर है। हिंसक युद्धमे साधनोकी हिंसकता बढाई जाती है और अहिंसक युद्धमे उनकी शुद्धता। हिंसक युद्धमे हम क्या करते है ? विरोधीके हथियारोके सामने जब हमारे हथियार असमर्थ साबित होते है, तो उनसे भी ज्यादा भयानक हथियार हम खोजते है और उसका प्रयोग करते है। यह प्रक्रिया आज यूरोपकी लडाईमे प्रत्यक्ष हो रही है। चर्चिल साहब कहते है कि अगले साल हम जर्मनीसे भी ज्यादा हिंसक और भयानक शस्त्रास्त्र तैयार करेगे। हिटलरकी रणगाडियो (टैंको)से अधिक तादादमे और अधिक भयानक रणगाडिया बनवायेगे, तब हमारी जीत होगी। इस प्रकार एक-दूसरेकी अपेक्षा ज्यादा हिंसक शस्त्रोका निर्माण दोनो दल करते है।

अहिंसक युद्धकी रीति इससे जुदी है। अग्रेज सरकारने हमे छोडकर यह चुनौती दी है कि, "अरे, हिदुस्तानके छूटे हुए गुलामो! अगर तुम्हे स्वतत्रता चाहिए, तो तुम और जोशसे लडो।" मगर इसका जवाब हम अहिंसक रीतिसे कैसे देगे ? हिंसक लडाईमे ऐसी चुनौतीका जवाब साधनोकी हिंसकता बढाकर दिया जाता है। अहिंसक लडाई ज्यादा जोशके साथ चलानेका तरीका दूसरी तरहका है। अहिंसक युद्ध अधिक जोरसे चलानेका मतलब साधनोकी शुद्धता बढाना और अधिक आत्मशुद्धि करना है। हमारे इस छुटकारेकी बुराईमेसे यह भलाई निकली है। ईश्वरकी कृपासे अग्रेज सरकारको हमे जेलमे डालनेकी प्रेरणा हुई। इसलिए हमे आत्म-परीक्षणका और जिन साधनोको हमने शुद्ध समझकर अपनाया था उनकी शुद्धता परखनेका सुयोग मिल गया। हमारे साधनोमे जो कुछ अशुद्धि रह गई हो, उसे दूर करके अब हमे अधिक तीव्रतासे लडना चाहिए। अहिंसक प्रक्रियामे ज्यादा जोरके साथ लडनेका अर्थ यही है।

अपने साधनोमे छिपी हुई अशुद्धिका निरीक्षण करनेका अवसर हमे जेलमे मिलता है। लेकिन मुझे खेदके साथ स्वीकार करना पडता है कि जेलमे जितनी सयमशीलता और मर्यादा रखनी चाहिए थी उतनी हममेसे बहुत-से न रख सके। शायद इसीलिए परमेश्वरने हमे फिर विचार करनेका यह अवसर दिया है कि हम अपने औजारोको कैसे शुद्ध करे। जेलमे हमे छूट मिले या हमारे साथ ढीलका

वर्ताव हो तो, भी हमारे सयम, विवेक और तपश्चर्याका सरकार, अधिकारीवर्ग और दूसरे लोगोपर अनुकूल परिणाम होना चाहिए। लेकिन हमने तो यह किया कि जितने भोग प्राप्त हो सके, प्राप्त किये। ऐसी हालतमे अगर हमे लडाई जोरसे चलानी है तो ज्यादा शुद्ध कसौटीपर उतरकर सत्याग्रह करना चाहिए। तभी हमारे अगले सत्याग्रहमे अधिक वल आवेगा। अगर हम अपनी लडाई अधिक शुद्ध मनसे, अधिक शुद्ध जनसे और अधिक शुद्ध योजनासे चलायेगे, तो वह नि सशय सफल होगी।

एक सवाल यह उठाया गया है कि इस छुटकारेको सरकारकी सद्भावना समझकर हमे अपना कार्यक्रम क्यो न वदलना चाहिए? इसपर मुझे रविवावूकी एक उक्ति याद आती है। उन्होने कहा है कि भारतवर्ष एक महामानव-सागर है। यह यूरोपके एक-एक करोडके नन्हे-नन्हे देशोके समान, टूटपूजिया नही है। जिनके अलग-अलग धर्म, अलग-अलग भाषाए, अलग-अलग रहन-सहन, भिन्न-भिन्न प्रात, जुदे-जुदे रीतिरिवाज है, ऐसे चालीस करोड भाई-वहनोका यह देश एक महान् सयुक्त कुटुवके समान है। यह हमारा सद्भाग्य है। इस विविधताके कारण इतने वडे सागरमे तरह-तरहकी लहरे उठती है, भिन्न-भिन्न विचार उत्पन्न होते है। इसी तरहका एक खयाल यह भी है कि कार्यक्रम वदला जाय। लेकिन सवाल यह है कि क्यो वदला जाय? क्या जिस मुद्देपर हमारी लडाई शुरु हुई थी वह मान लिया गया? उसकी खातिर हम वाहरसे जेलके भीतर गये थे। अव वह माग स्वीकार किये विना हमे फिर वाहर भेज दिया गया। तो भी अगर कार्यक्रममे परिवर्तन करना है, तो हम जेल गये ही क्यो थे? जेल जानेसे पहले तो हम आजाद थे ही। हमारी माग स्वीकार न होनेपर भी अगर हम कार्यक्रम वदल देते है तो उसका अर्थ यह है कि वह माग ही छोड देने योग्य है। मै आपसे कहना चाहता हू कि जिस मुद्देपर हमने यह अहिंसक लडाई छेडी है वह छोडनेके लायक नही है। वहुतमे अधिकार ऐसे होते है कि उनका व्यवहारमे लाना सदा आवश्यक नही होता। लेकिन भाषण-स्वातत्र्यके अधिकारपर अमल न करनेसे काम नही चलेगा।

भाषण-स्वातत्र्य तो हमारा अधिकार ही नही है, धर्म है। धर्मका तो पालन सदा करना ही पडता है। हमे आज जो भी वल मिला है, वह पिछले वीस वर्षोकी अहिंसाकी साधनासे मिला है। आप लोगोमेसे जो मुझसे वडे या मेरी उम्रके

है, वे जानते हैं कि तीस वर्ष पहले हिंदुस्तानकी क्या हालत थी। उस वक्त हम 'वदेमातरम्' वोलनेसे घवडाते थे और 'स्वराज्य चाहिए', कहना भयानक था। शरीरको सुगठित करनेके लिए अखाडे खोलते, तो वे भी भयानक माने जाते। वीस-पच्चीस वर्ष पहले हमारी ऐसी हीन-दीन दशा थी। होती भी क्यो न ? जव कि दो सौ वर्षसे हम नि शस्त्र और परतत्र थे। हम अपनी बुद्धि, लक्ष्मी और शक्ति सव कुछ गवा चुके थे। ऐसी हालतमे हम कैसे समर्थ हुए ? इतनी वलवान सरकारका विरोध—और सो भी पचास वर्षतक—लगातार करनेकी शक्ति क्योकर काग्रेसमे आई ? यह किस जादूकी लकडीका प्रताप है ?

परसो एक जर्मन वक्ताने बडे गर्वसे कहा था कि अब यूरोप नि शस्त्र हो गया है और हमारी रणगाडिया शाति कायम रख लेगी। यह विश्वास रिबनट्रॉप-को इसी आधारपर हुआ कि टैकोके सामने निहत्थी प्रजा क्या कर सकती है ? वह जरा भी ची-चपड करेगी तो दवा दी जायगी। यही श्रद्धा अग्रेजोको थी कि जिस हिंदुस्तानके हथियार छीन लिये है, उसपर हमारा पजा आरामसे रहेगा। वे समझते थे कि हम अपने शस्त्रास्त्रोके जोरपर नि शस्त्र हिंदुस्तानमे वडी आसानीसे शातिका प्रचार करेगे। किंतु इस तरहकी दुर्दशामे पडे हुए देशने इतने जवरदस्त साम्राज्यसे टक्कर लेनेवाली काग्रेस-जैसी महान् सस्था कैसे खडी कर ली ? यह अहिसाका ही चमत्कार है। अहिसाके तत्त्वमे सघटन करनेकी वडी शक्ति है।

यह युग सघ-वलका युग है। पहले तो इक्के-दुक्के आदमियोके वलसे भी काम चल जाता था, परतु इस जमानेमे वलवान सघटनके विना सत्ता नही मिल सकती। युरोपमे वह सघटन हिंसाके आधारपर होता है। तो भी वहाके देशोको हिंसाको राष्ट्रव्यापी वनाना पडता है, तभी वे मुकाविला कर सकते है। देखिए, रूसने एक करोड सेना खडी की है। यह कोई छोटी वात नही है। फिर भी, उसके पैर लडखडा रहे है। वात यह है कि हिंसामे शत्रुसे भी प्रचड होना चाहिए। फुटकर हिंसक वेकार होता है। या तो अत्यत व्यापक और तीव्र स्वरूपका सघटन होना चाहिए, या विलकुल नही। और कोई चारा नही है। गुप्तरूपसे षड्यत्र करके दो-चार खून करनेमे विजय नही मिलती। राष्ट्रके तमाम लोगोको उसी काममे जुट जाना पडता है। इग्लैंडको देखो। वहा स्त्रियोतककी भरती हो रही है। साढे अठारह वर्षसे ऊपरके तो सभी स्त्री-पुरुष जवरन भर्ती किये जा रहे है। सोलहसे साढे अठारह वर्षके तरुण-तरुणियोको भी भरती होनेके लिए प्रेरणा,

उत्तेजन और प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इतना भयानक सगठन करनेपर कही आशा हो सकती है। नही तो चुपचाप गुलाम वनकर टैंकके आगे सिर झुकाओ। युरोपमे ये ही दो मार्ग पाये जाते हैं।

लेकिन महात्माजीने हमारी सस्कृति और स्थिति देखकर हमे एक नया हथियार दिया है। वह है अहिंसा। इसमे जागृति और सगठनकी कितनी विलक्षण शक्ति है, यह हमारे जैसे नि शस्त्र, विशाल और पराधीन देशकी आजकी निर्भयतासे सावित है। चोरी-चुपकेकी हत्यामे यह शक्ति नही है। क्या हम इतनी वडी शक्तिको खो वैठे? फिर तो अग्रेजोकी शरण जानेके सिवा हमारे पास और कोई उपाय ही नही रह जायगा। हम ऐसे शस्त्रको हरगिज न छोडेगे। उसे हम और भी तेजस्वी वनायेगे। चुपचाप नही वैठेगे। जव इतना भयकर हिंसा-काड हो रहा है, दुनिया तवाह की जा रही है और हमारे देशको भी उसमे घसीट लिया गया है, तो हम उसके विरोधमे प्रचार किये विना कैसे रह सकते हैं?—लोगोसे यह कहे विना हम कैसे रह सकते है कि लडाईमे शामिल मत होओ। इस वक्त अगर हम चुप रहेगे तो सारा राष्ट्र खस्सी हो जायगा। हम गुलाम बने रहेगे। यह भाषण-स्वातत्र्य कोई मामूली अधिकार नही है, वह हमारा महान् कर्तव्य है। जवतक उसे पूरा करनेका अधिकार न मिले, तवतक खाली छुटकारेके जालमे फसकर हम अपनी लडाई वद कैसे कर सकते है? यह हुआ शुद्ध, अर्थात् आत्यनिक अहिंसाके पहलूसे विचार।

एक दूसरी भी दृष्टि है। वह यह कि 'हमारे लिए हिंसा-अहिंसाका मुद्दा प्रधान नही है। हम तो साम्राज्यवादी युद्धमे मदद नही करना चाहते। और जवतक सिर्फ अग्रेजोका ही सवाल था, तवतक उनका साथ न देना ठीक था। लेकिन रूसके शामिल होनेसे लडाईका स्वरूप ही वदल गया है। वह साम्राज्य-वादी राष्ट्र नही, समाजवादी मुल्क है। अव तो जो लोग इस युद्धको साम्राज्य-वादी और साम्राज्यवादको वढानेवाला समझकर उसका विरोध करते थे, उन सवको चुप रहना चाहिए। लेकिन इस वारेमे एक सवाल उठता है—'अग्रेज और रूसकी दोस्तीका क्या मतलव है?' या तो इग्लैडने साम्राज्यवाद छोडा होगा या रूस अपने आदर्शसे कुछ नीचे उतर आया होगा। अवतक जो घटनाएं घटी है, उनसे साफ है कि रूस ही अपने आदर्शसे गिर रहा है। यो तो रूस अपने आदर्शसे पहिले भी कुछ-कुछ गिर चुका था। इस पतनके वीज रूसी क्रान्तिमें

ही थे। और उसकी योजनामे भी हिंसाको स्थान है। मतलव यह कि रूसमे पहले हीसे हिंसक शक्ति थी। अव वह बढ गई है।

हिंसक शक्तिका विरोध काग्रेसके तत्त्वज्ञानमे है। लेकिन साम्राज्यवादकी विनापर जो विरोध किया जाता था वह भी कायम ही रहता है। क्योकि इग्लैडकी साम्राज्यवादी मनोवृत्तिमे कोई फर्क नही हुआ है। अगर हुआ होता तो उसका प्रकाश हिंदुस्तानमे जरूर पडता। इग्लैडके रुखमे कोई फर्क नही पडा है। ऐसे साम्राज्यवादी राष्ट्रसे रूसने हाथ मिलाया है। ऐसी हालतमे यह नही कहा जा सकता कि युद्धका स्वरूप बदल गया है। उल्टे रूस और इग्लैडके मिल जानेसे तो युद्धकी हिंसकता और भी बढेगी और इग्लैडके साम्राज्यवादकी छूत रूसको भी लगेगी। इसलिए साम्राज्यवादके विरोधके कारण भी हमे सत्याग्रह जारी रखना चाहिए।

एक तीसरी बात यह कही जाती है कि पार्लमेंटरी कार्यक्रम क्यो न शुरू किया जाय? यह कौसिलोका मोह उसी हालतमे अच्छा हो सकता है, जब राष्ट्रके हाथमे सच्ची सत्ता होती है। आज वह सत्ता कहा है? आज तो पार्लमेंटरी कार्यक्रम फिरसे शुरू करनेका मतलब सरकारके जालमे फसना होगा। एसेंबलीमे जाकर कमाडर-इन-चीफकी हा-में-हा मिलानी होगी। ठीक वही हाल होगा जैसा कि हमारे यज्ञयागादि धार्मिक समारभोमे होता है। पति सकल्प करता है, पत्नी उसके हाथमे हाथ लगाकर अनुमोदन देती है। इसके माने यह है कि हिदुस्तान खुशीसे युद्धमे धन-जनकी सहायता दे। इसका यही अर्थ हुआ कि हम सरकारके दरबारमे जाय और वहा भारतके सेनापति वेवैल साहबके प्रवचन सुनकर हिंसक कार्यमे उनकी मदद करे। फिर तो काग्रेसको अहिसा द्वारा स्वराज्य लेनेका अपना उद्देश्य बदल देना होगा। लेकिन गाधीजीको और मुझ-जैसे असख्य व्यक्तियोको यह बात नही जचती कि हिसाके मार्गसे स्वराज्य मिलेगा। इसीलिए हमे पार्लमेंटरी प्रोग्राम (दरबारी राजनीति) नही जचती।

इसलिए हमे इस युद्धका यथाशक्ति विरोध करना ही चाहिए। हा, हमको अपने साधन पहलेकी अपेक्षा अधिक शुद्ध रखने होगे। जो लोग जेल जाय, उन्हे अधिक सयमशीलता, अधिक कर्तव्यनिष्ठा और अधिक भक्ति रखनी होगी। इसका वातावरणपर शुभ परिणाम होगा। इतनी दक्षता और सावधानीसे हमे आगे बढना चाहिए।

मगर जेल जानेवालोमे युद्धके प्रतिकारकी शक्ति कहासे आयेगी ? वह तो तब आयेगी, जब आप सबका सहयोग और अनुमोदन होगा, हम आप सबके प्रतिनिधि होकर जायगे और आपमे और हममे एकसूत्रता रहेगी। तभी युद्ध-विरोधी प्रचारमे शक्ति पैदा होगी। जब हमारे विचारके पीछे आपका समर्थन होगा, तभी सत्याग्रहमे प्रचड शक्ति आयेगी। खाली हाथ उठाकर समर्थन करनेसे काम नही चलेगा। देखिए, यूरोपवाले अपनी आजादीके लिए कितना बलिदान कर रहे है ? लाखो आदमी और विपुल धन कुर्बान किया जा रहा है। इसी तरह आपको प्रत्यक्ष सहयोग देना होगा। वह सहयोग इसी तरह हो सकता है कि लाखो लोग रचनात्मक-कार्यक्रममे भाग ले। केवल हाथ उठानेके त्यागसे काम नही चलेगा। अगर आप लोगोका सहयोग सजीव और व्यापक हो तो जेलमे भले मुट्ठीभर ही आदमी चले जाय, तो भी हम सफलता प्राप्त कर सकते है। हनूमानका उदाहरण आपको मालूम है। वह अकेला लकामे पहुचा था। महाबली राक्षसोके बीच इस तरह पहुचकर पराक्रम करनेकी शक्ति उसमे कैसे आई ? यह पराक्रम उसने किसी अखाडेमे कसरत करके प्राप्त नही किया था। जब इस निर्भयताका कारण उससे पूछा गया, तो उसने कहा, 'मेरा असली बल शरीरबल नही है। श्रीरामचद्रका पृष्ठ-पोषण ही मेरे इस पराक्रमका आधार है। मै रामका दास हू'।

कहावत है कि 'पचोमे परमेश्वर' होता है। जनता ही जनार्दन है। उस देवताका समर्थन हमारा सच्चा बल है। वह समर्थन रचनात्मक आचारके रूपमे ही हो सकता है।

हिंसात्मक युद्धकी तैयारीमे भी अखड विधायक कार्यक्रमकी आवश्यकता होती है। हिंसक युद्धमे सिर्फ सेना ही नही लडती। समूचे राष्ट्रको विधायक कार्यमे जुट जाना पडता है। जब प्रचड विधायक सगठन होता है, तभी हिंसक युद्धकी तैयारी होती है। युद्धकी सामग्री बनानेके लिए बडे-बडे कारखाने खोलने और चलाने पडते है, रास्ते और पुल बनवाने पडते है, वर्दिया बनवानी पडती है, खेती और दूसरे उद्योगो द्वारा खुराक और रसद का प्रबन्ध करना पडता है, लडके-लडकियोको पाठशालाए छोडकर इस काममे लग जाना पडता है, स्त्रियोको घरका काम सम्हालकर युद्धकी विधायक तैयारी मे हाथ बटाना पडता है। जरा हिटलरसे पूछिए तो वह कहेगा कि मुझे चौदह आने विधायक कार्य करना पडता

है और सिर्फ दो आने प्रत्यक्ष लडाईका काम। सेना लडती है, परतु सारा राष्ट्र उसके पीछे काम करता है। स्त्रिया सीने-पिरोनेका, मरहम-पट्टीका और सेवा शुश्रूषाका कार्य करती है। छोटे-छोटे बालक भी कारखानोमे अपने बूतेका काम करते है। बूढे अपने लायक काम करते है। हा, इस सारे विधायक कार्यका उपयोग तो हिसक लडाईके ही लिए होता है। लेकिन वह कार्य अपनेमे विधायक ही होता है। जब हिसात्मक युद्धमे जनताके इतने विधायक सहयोगकी आवश्यकता है, तब अहिसक लडाईकी तो बात ही क्या ? उसमे तो सोलह आने शक्ति रचनात्मक कार्यकी ही है।

खाली युद्ध-विरोध सफल कैसे हो सकता है ? युद्ध-विरोधी सत्याग्रह तो ऐसा है जैसे चिरागको दियासलाई लगाकर सुलगाते है। लेकिन चिराग किस शक्तिके आधारपर प्रकाश देता है ?—बत्ती और तेलके आधारपर। वह न हो तो दिया प्रकाश नही दे सकता। सारी बत्तीको तेलसे पोषण मिलता है। दियासलाई तो निमित्तमात्र होती है। बत्तीका एक सिरा दियासलाईसे जला देनेपर चिराग अखड जलता रहता है। उसी तरह सिर्फ युद्धविरोधकी दियासलाईसे काम नही चलेगा। जबतक रचनात्मक-कार्यक्रमका तेल और बत्ती नही होगी, तबतक प्रकाश नही पडेगा, दिया नही जलेगा। अगर तेल और बत्ती होगी और बत्तीको तेलकी खुराक बराबर मिलती रहेगी, तो युद्ध-विरोध सफल होगा, तेजस्वी होगा। लाखो नर-नारी जब रचनात्मक कार्य द्वारा सत्याग्रह-रूपी दीपकको तेल-बत्ती पहुचाते रहेगे, तभी उसकी ज्योति अखड और प्रचड रहेगी।

इस तेलके भडारको भरपूर रखनेके लिए हिदू-मुस्लिम एकता होनी चाहिए। लेकिन वह कैसे हो ? हमे एक-दूसरेका विश्वास करना सीखना चाहिए। हजार-हजार और बारह-बारह सौ वर्षसे हम एकत्र रह रहे है। फिर भी आपसमे अविश्वास और डर है। उसे बिलकुल नष्ट कर देना चाहिए। दूसरी महान् विधायक प्रवृत्ति हरिजन-सेवा है। हमे अपने हरिजन भाइयोको नजदीक लेकर उनके साथ कुटुबियोका-सा बर्ताव करना चाहिए। घर-घरमे चर्खा भी चलना जरूरी है। हमारा राष्ट्र गरीब है। वह तो जब दोनो हाथोसे काम करेगा, तभी भूख मिटेगी।

एक गृहस्थने मुझसे कहा, "मेरे यहा तो खानेवाले छ-सात मुह है।" जवाबमे मानो ईश्वरकी वाणी ही मेरे मुहसे निकली। मैने कहा, "घबडानेकी

क्या बात है ? सात मुह है तो चौदह हाथ भी तो है ? यह तो ईश्वरकी दयालु और प्रेममय योजना है कि उसने एक मुहके पीछे दो हाथ दिये है, दो हाथोके पीछे एक मुह नही ।" हम चालीस करोड है । हमारे अस्सी करोड हाथोमे कितनी शक्ति भरी है ! यह हमारा दुर्भाग्य या मुसीबत नही है, महान् सद्भाग्य और लक्ष्मी है । दोनो हाथ काममे लगाइए। सूत कातनेका काम बिलकुल आसान है । लडाईकी वजहसे आज मिलका कपडा बहुत महगा हो गया है । लडाईका कोई ठिकाना नही कबतक चले । मुझे तो वह लबी जाती दीखती है । ऐसी हालतमे महगाईके कारण कदाचित् कपडेके अभावमे हम सभीको जाडेके दिनोमे ठिठुरना पडे । परावलबीका यही हाल होता है। लेकिन सूत कातनेका काम तो बच्चे, बूढे, कमजोर सभी कर सकते है ।

स्वावलबनके अलावा एक दूसरी दृष्टि भी है । देशके लिए हररोज कुछ-न-कुछ करना चाहिए । इस तरहकी प्रत्यक्ष क्रिया कौन-सी हो सकती है ? हमे अपने बच्चोको कातनेके सस्कारमे भी वैसी ही भावना देनी चाहिए जैसी तुलसीकी पूजामे । छुटपनमे हमारी मा हमे तुलसीमे पानी डालनेके लिए कहा करती थी । हर एक घरमे इस तरह प्रत्यक्ष क्रियाके द्वारा बच्चोके दिलमे धर्म-प्रीतिका सस्कार पैदा किया जाता था । प्रत्यक्ष उपासना सिखाई जाती थी । हम भी छोटे बच्चोसे प्रतिदिन देशप्रीतिके प्रतीकके रूपमे प्रत्यक्ष कार्य करावे । राष्ट्र-प्रेमकी द्योतक इस क्रियामे हमे अभिमान मालूम होना चाहिए ।

इसी तरह सब तरहके व्यसन छोडने चाहिए ।

याद रक्खो अगर सब लोग रचनात्मक काम करेगे, तो हमारी सत्याग्रहकी लडाईमे वह जोर पैदा होगा जिसको कोई शक्ति दबा न सकेगी। फिर आपके लिए 'पराजय' जैसा कोई शब्द ही नही रहेगा। मुझे हमारी अतिम विजयके बारेमे तनिक भी सदेह नही है । मेरे मित्रो, सिर्फ आपका सक्रिय समर्थन चाहिए ।[१]

(सर्वोदय जनवरी, १९४२)

---

[१] रिहाईके बाद (७ दिसंबर, १९४१ को) वर्धामें दिया गया भाषण ।

: ११ :

हमारी तर्कशुद्ध भूमिका

मुझे पता नही था कि मै यहा अपने अधिकारकी कक्षामे आनेवाला काम करने आ रहा हू। परतु प्रारभमे इस कॉलेजके आचार्यका जो भाषण सुना उससे मालूम हुआ कि मै अपने अधिकारके ही कामके लिए यहा आया हू। अभी कहा गया कि यह कॉलेज अगले सत्रमे नागपुर जानेवाला है और इसलिए यह अतिम प्रसग है। अक्सर अतिम अवसरोपर ही मेरी बुलाहट होती है। मालूम होता है वही मेरा अधिकार है। योग्य स्थानपर योग्य व्यक्तिकी नियुक्ति अपने-आप कैसे हो जाती है यह देखकर आश्चर्य होता है। मैने जब इस निमत्रणको स्वीकार किया तो मेरे आसपास रहनेवालोको जरा आश्चर्य ही हुआ। वे सोचने लगे, 'यह कहाका प्राणी कहा पहुचेगा' ? ज्ञानदेवने लिखा है, "एक जगली जानवर पकड-कर राजमहलमे—कोलाहलसे भरे राजमहलमे—लाया गया। बेचारा हैरान हुआ कि कैसे शून्य स्थानमे आ पहुचा हू। उसे दसो दिशाए सुन-सान प्रतीत होने लगी।" साथियोने सोचा कि यहा मेरा भी वही हाल होगा। क्योकि कॉलेज जैसे स्थानोका वातावरण और होता है और हमारा वातावरण कुछ और तरहका। इसलिए उनकी शकाके लिए गुजाइश जरूर थी।

परतु मेरे दिलमे इस तरहकी कोई शका जरा भी नही थी। क्योंकि विद्यार्थी चाहे कहीका हो, चाहे कौन-सा भी हो,—वह दूसरे प्रकारका हो सकता है —लेकिन उसकी वृत्ति मेरी वृत्तिसे मेल खाती है। वह मुझे मेरी आत्मा ही प्रतीत होता है। यह अनुभव मुझे कई बार, याने जब-जब मै विद्यार्थियोके सामने बोला हू तब-तब, हुआ है। जब मै विद्यार्थियोमे बोलता हू तो मुझे ऐसा मालूम ही नही होता कि मै किसी दूसरेसे बोल रहा हू। ऐसा मालूम होता है मानो मेरी आत्मा ही साकार होकर सामने खडी है, मै अपने-आपसे ही बोल रहा हू। कारण मै एक विद्यार्थी हू। अगर मै विद्यार्थी न होऊ तो मै कुछ भी नही हूं। यह स्थिति है। आजतक विद्यार्थी रहा हू और, अगर इस जन्मकी ही बात करू, तो अततक भी रहूगा, ऐसी आशा करनेमे हर्ज नही। इसलिए वातावरण चाहे कितना भी भिन्न क्यो न हो, मेरे सामने जब विद्यार्थी होते है तो उनमे और मुझमे भेद नही

रहता। इस विषयमे मुझे कोई सदेह नही था। इसीलिए यह निमत्रण मैने स्वीकार किया।

लेकिन यहा आनेपर मै किस विषयपर बोलू ? मै समझता हू कि मै कौन-से काममे लगा हू, यह जानते हुए, या यो कहिए, यह जाननेके कारण ही मुझे यहा बुलाया है। इसलिए मुझे क्या बोलना चाहिए इसके विषयमे आपकी अपेक्षा स्पष्ट ही है। मै उस अपेक्षित विपयपर ही बोलनेवाला हू।

परतु एक वात मुझे कह देने दीजिए। कारण, प्रास्ताविक भाषणमे मुझसे यह अपेक्षा की गई है कि मै विद्यार्थियोको कुछ उपदेश दू। लेकिन मै उपदेश हरगिज नही दूगा। क्योकि मैने यह सूत्र ही वना लिया है कि जो विद्यार्थियोको उपदेश देता है वह एक 'पढत-मूर्ख' (पठित-मूर्ख) है और जो ऐसे उपदेश सुनता है वह दूसरा पढत-मूर्ख है। रामदासने पठितमूर्खके लक्षण बतलाये है। आप उन्हे जानते है। लेकिन मै देख रहा हू कि वे लक्षण बरावर बढते चले जा रहे है। अव वह पुरानी तालिका कामकी नही है।

विद्यार्थियोको उपदेश देना मूर्खताका लक्षण है, यह कहनेसे मेरा यह अभिप्राय है कि ससारमे यदि कोई सपूर्ण स्वतत्रताका हकदार हो सकता है तो विद्यार्थी ही। क्योकि दूसरे सव लोगोके पीछे कोई-न-कोई दड, कठिनाई, दवाव, अकुश, मर्यादा लगी ही रहती है और लगी रहना उचित भी है। लेकिन विद्यार्थी किसी वधनमे वधा हुआ नही होना चाहिए। मै अपने अनुभवमे यह कह रहा हू। मै भी विद्यार्थी ही हू। एक विद्यार्थीकी हैसियतसे मै कोई भी वधन स्वीकारनेको तैयार नही हू। एक नागरिकके नाते मुझपर कुछ वधन है। मै अपने माता-पिताका वेटा हू इसलिए भी कुछ वधन है। मै अपने मित्रोका सहयोगी हू इस कारण भी कुछ वधन प्राप्त होते है। उन्हे मै स्वीकार करूगा, यह वात और है। परन्तु विद्यार्थीके नाते मै किसी वधनको स्वीकार करनेके लिए तैयार नही हू। विद्यार्थीसे यही अपेक्षा रक्खी जानी चाहिए कि वह तटस्थ वृत्तिसे हरएक वातकी जाच-पडताल करे। उसके सामने कोई विपय या ज्ञान इसी अपेक्षासे उपस्थित किया जाना चाहिए। 'क्या उपयुक्त है और क्या अनुपयुक्त है' इनका निश्चय करनेका उसको हक है। इसलिए मै उपदेश नही दूगा।

ज्ञानका कार्य दर्पणके समान है। दर्पण स्वय स्वच्छ है। वह देखनेवालेको उसका रूप दिखायेगा। लेकिन आइना उठकर किसीकी नाक साफ नही करेगा

या जवरदस्तीसे अथवा समझा-बुझाकर नाक साफ नही करायेगा। यह काम माता खुशीसे करे। आइना तो इतना ही वतायेगा कि नाक साफ है या गंदी। वह अपनी स्वच्छताके द्वारा सिर्फ दिखानेका काम करता है। अगला कार्य वह देखनेवालेको सौप देता है। वह उसकी मर्जीकी वात है, उसका हक है। अपने स्वच्छताके गुणकी बदौलत दर्पण देखनेवालेके हकमे दखल नही देता। ज्ञानकी प्रक्रियामे उपदेशके वरावर दूसरी गलती नही है। हमारे शास्त्रकार इसी सिद्धातके अनुसार चले। इसीलिए उन्होने शासन किया। उन्होने समाजका शासन किया, इसलिए वे शास्त्रकार कहलाये। परतु उनका शासनका तरीका यह था कि वे वस्तुका स्वरूप स्पष्टरूपसे दिखाकर चुप हो जाते थे। शास्त्रकारोकी इस रीतिके अनुसार तुम्हारे सामने विषय उपस्थित करके उचित-अनुचितके निर्णयका अधिकार तुम्हे देकर—वह अधिकार तुम्हे पहलेसे ही प्राप्त है—मै भाषण करूगा।

तुम कॉलेजके विद्यार्थी हो। इसलिए वर्तमान परिस्थितिकी तरफ तुम्हारा ध्यान अवश्य गया होगा। उस सबधमे तुम्हारा श्रवण और वाचन जाग्रत होगा। जरा देखो, आजका जमाना कैसा है? सारे मानव-समाजके पेटमे जबरदस्त दर्द हो रहा है। पृथ्वीके पेटमे भी इसी प्रकारकी वेदना होती है और भूकप जैसे उत्पात होते है। इस भयानक वेदनामेसे कौन-कौन-से उत्पात ससारमे होनेवाले है, यह कोई नही वतला सकता। इधर कई सदियोसे इतना उत्पाती समय हुआ ही नही। लोगोका यह खयाल है कि मानव-समाजका इतिहास पाच-दस हजार वर्षोका पुराना है। तुम इतिहासकी जो पुस्तके पढते हो, उनमे मुश्किलसे दो-तीन हजार वर्ष पहलेका इतिहास दिया हुआ होता है। उसके पहलेके करीव हजार-दो-हजार वर्षोका हाल मोटे तौरपर अदाजसे वतलाया जाता है। परतु वस्तुत मानव-समाजका इतिहास कम-से-कम दस लाख वर्षोका है। इसलिए हमे जो इतिहास सिखाया जाता है वह तो मानवसमाजके इतने लबे इतिहासका इधरका आखिरी सिरा है। इतने वडे अवकाशमे कई क्रांतिया हुई होगी, कई उदर-पीडाए हुई होगी। परतु पिछले सारे ज्ञात इतिहासमे इतनी भयानक उदरवेदना आजतक कभी नही हुई थी।

आजके इस युद्धमे समूची दुनिया शामिल हुई-सी है। समूची दुनिया। मै लाक्षणिक या अलकारिक अर्थमे नही कहता। अक्षरश सारी दुनिया इस यद्धमे शरीक है। यह वात हमे खूब अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। आजका

युद्ध सारी दुनियाका 'सकुल युद्ध' है। 'टोटल वॉर'के लिए मैने 'सकुल युद्ध' शब्दका प्रयोग किया है। मतलब, यह ऐसा युद्ध है जिसमे समूचे राष्ट्र दूसरे राष्ट्रोके दुश्मन माने जाते है—यहाके पुरुषोका वहाके पुरुषोसे वैर है, यहाकी स्त्रियोकी वहाकी स्त्रियोसे अदावत है, यहाके जानवरोकी वहाके जानवरोसे दुश्मनी है, यहाके पेडोका वहाके पेडोसे शत्रुत्व है, यहाके औजारोका वहाके औजारोसे, यहाके जड पदार्थोका वहाके जड पदार्थोसे सीधा, तिरछा, आडा-टेढा, ऊपरसे, नीचेसे, चारो तरफसे, सारे शब्दयोगी और उभयान्वयी अव्ययोसे व्यक्त होनेवाला, सब तरहका, वैर है। इसे और कोई विधि-निषेध लागू नही है—जिसकी बदौलत विजय होगी वह विधि और जिसके कारण पराजयकी सभावना हो वह निषेध। इसलिए मै जो यह कह रहा हू कि समूचा जगत इस युद्धमे शामिल है, उसका आप अक्षरार्थ लीजिए।

अभी उसी दिन पढा कि इग्लैडने जो बात अपने इतिहासमे कभी नही की वह आज की है। वहा ऐसा कानून बना दिया गया है कि अठारह सालसे अधिक उम्रवाली जो स्त्रिया अविवाहित हो उन्हे, और विवाहित होते हुए भी जिनके सतान नही है उन्हे, युद्धमे शामिल होना चाहिए। यह भी हिसाब लगाया गया है कि इस तरहकी सोलह लाख औरते मिल सकती है। लेकिन इतनेसे भी तसल्ली नही हुई। वे कहते है कि सोलह और अठारहके बीचकी उम्रकी स्त्रियोको युद्धमे शामिल होने के लिए उत्तेजन दिया जायगा। हमारे यहा कहा करते है न कि **'प्राप्तेतु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्'**। 'पुत्र सोलह वर्षका होते ही उससे मित्रके समान बर्ताव करना चाहिए।' उसी न्यायसे सोलह वर्षकी होते ही स्त्री युद्धके काबिल मानी गई।

उधर रूसने एक दूसरा ही ऐलान निकाला है। कहा जाता है कि इन पाच महीनोकी लडाईके बाद, मैदानमे मारे गये, घायल हुए या कैद किये गये मिलाकर, कोई एक करोड सैनिक लडाईके लिए अयोग्य हो गये है। अठारह करोडके राष्ट्रमे, किसी भी हिसाबसे कूतिये, तो लडाईके लायक साढे चार करोडसे ज्यादा आदमी होनेकी सभावना नही है। और उनमेसे भी सभी लडाईपर नही भेजे जा सकते। प्रत्यक्ष लडाईपर जानेवाले हरएक सिपाहीके पीछे तीन दूसरे आदमियोकी जरूरत होती है। बिजली, पानी, आदिका इतजाम करना, रास्ते बनवाना, औजार बनवाना आदि-आदि कई काम होते है। मतलब यह कि प्रत्यक्ष

सिपाही और उसके मददगारोका अनुपात एक और तीन[illegible]माना जाये, तो सवा करोडसे ज्यादा सैनिक सेनामे दाखिल नही किये जा सकते। बहुत तो डेढ करोड समझ लीजिए। इन सवा या डेढ करोडमेसे एक करोड सिपाही युद्धके लिए अक्षम हो गये। इसका साफ यह मतलब है कि अब उन्हे आदमियोकी कमी महसूस होने लगी। लेकिन इतनेसे वे हारनेवाले नही है। उन्होने घोषित किया कि जिस पुरुष या स्त्रीके सतान न हो, उसपर कर लगाया जायगा। विवाहकी निर्धारित उम्रके बाद जिसकी शादी न हुई हो, उसपर भी कर लगाया जायगा। सतान होनेके बाद ही इससे छुटकारा मिल सकता है। याने, टैकोकी कमी महसूस होते ही जिस प्रकार कारखानो द्वारा उनकी उत्पत्ति बढानेकी कोशिश होती है, उसी प्रकार मरनेके लिए आदमियोकी कमी महसूस होते ही मनुष्य-निर्माणके कारखानोको यह प्रोत्साहन दिया जा रहा है। इस योजनासे मरनेके लिए तुरत आदमी मिल जायगे, ऐसी बात नही है। कम-से-कम सत्रह-अठारह साल लगेगे। लेकिन कभी-न-कभी मनुष्योकी कमी पूरी होनी चाहिए। इसलिए यह मनुष्य-निर्माणकी योजना है। कैसी भयानक परिस्थिति है यह !

इस भयानक परिस्थितिमेसे क्या निष्पन्न होगा ? इस उदर-वेदनामेसे आगे जो नव-निर्माण होगा उसीको ये लोग 'नवीन रचना' (न्यू ऑर्डर) कहा करते है। आज वे जो विध्वसक कार्य कर रहे है, उसे वे तात्त्विक दृष्टिसे निराईका काम कहते है। जिस तरह हम अपने खेतोमे पहले निराई करके फिर नई फसलके लिए उसे तैयार करते है, उसी तरहका उनका यह काम है। वे कहते है—उन्हे यह आशा है—कि इस युद्धके बाद मानव-समाजकी रचना और तरहकी होगी। माना कि होगी। लेकिन विद्यार्थियोको यह सोचना चाहिए कि जो कुछ अपने आप होगा उसे हम स्वीकारना चाहते है या हम अपनी योजनानुसार कोई निश्चित परिणाम चाहते है। इसका खूब विचार कर लीजिए। इस युद्धके बाद मानव-समाजकी आज जो स्थिति है वह नही रहेगी, इसमे कोई शक नही।

जिन्होने युद्ध शुरू किया उनके लिए उसे शुरू कर देना आसान था। परतु ज्यो-ज्यो युद्धकी प्रगति होती जाती है, त्यो-त्यो ये लोग युद्ध नही करते, बल्कि युद्ध इन्हे करता है। ये युद्धके नियामक नही रहते, उसके नियम्य बन जाते है। युद्ध उनका नियमन करता है। इन्हे युद्धके पीछे-पीछे जाना पडता है। कहा जाता है कि हिटलर सबसे बलवान् और योजना-कुशल है। लेकिन आज जो

जागतिक युद्ध चल रहा है, वह उसकी रचनाके अनुसार नही कहा जा सकता। अर्थात् इस युद्धकी निष्पत्ति जो होगी सो होगी। लेकिन इतनी भयकर क्षति और त्यागके बाद जो निष्पन्न होगा, वह प्राप्त करनेके लायक भी होगा ? कोई-न-कोई नतीजा तो होगा ही।

प्रचड भूकपके बाद कुछ अघटित घटनाए हो जाती है। इधरका समुद्र उधर हो जाता है, यहाका पर्वत उधर चला जाता है। ऐसी कुछ-न-कुछ उथल-पुथल होती है। भूकपसे ऐसी प्राकृतिक क्रातिया होती है। लेकिन वह क्राति मनुष्यकृत या मानवनियोजित नही होती—चाहे उसका परिणाम मनुष्योपर भले ही होता हो। वह स्वैर क्राति है। आजकी लडाईमेसे अगर हम अपना वाछित परिवर्तन उपस्थित कर सके, तब तो उसे नियोजित कह सकते है। अन्यथा अपने-आप परिवर्तन तो यो भी होने ही वाला है। तो क्या आजकी स्थिति बदलकर उसकी जगह कुछ-न-कुछ नया स्वरूप आ जावे, इतने हीके लिए यह सारी मार-काट शुरु की गई ? योजनाके अनुसार कोई निश्चित फल प्राप्त करनेके लिए ही तो इतनी भयानक लडाई शुरु की गई न ?

लेकिन आज यह साफ-साफ दिखाई दे रहा है कि ये बडे-बडे तगडे कहलानेवाले लोग—चर्चिल, हिटलर, स्टैलिन, रूजवेल्ट, सभी—युद्ध-परतत्र हो गये है। इनके वशमे युद्ध नही है। ये उसके अधीन है। जिधर वह ले जायगा, उधर जानेके लिए ये बाध्य है। मै इतना भयानक युद्ध भी हजम करनेके लिए तैयार हू। लेकिन अगर उसके बाद मै जैसा परिवर्तन चाहता हू वैसा परिवर्तन हो सके तभी। वरना, 'जो होगा सो होगा', कहनेकी नौबत आयेगी। नवीन रचनाके लिए वर्तमान युद्ध बेकार है। वह इष्ट या निश्चित दिशामे प्रगति नही कर रहा है। इसके बारेमे तो लॉर्ड हैलिफेक्सने जो जवाब दिया था वही यथार्थ है। उनसे पूछा गया, 'इस युद्धका उद्देश्य क्या है ?' बेचारेके मुहसे सच बात निकल गई। उसने कहा, 'विजय ही इस लडाईका उद्देश्य है।' पहले तो 'हम प्रजातत्रके लिए लड़ते है' इत्यादि-इत्यादि स्वरूपकी भाषा थी। लेकिन अब भेद खुल गया। दूसरा क्या उद्देश्य बताते बेचारे ? विजय प्राप्त करनेके आनदके लिए या लडनेके मजेके लिए ही क्या कभी लडाई की जाती है ? लडाईके लिए उद्देश्योकी जरूरत होती है। लेकिन यह लडाई शुरु करनेके समय उद्देश्य भले ही रहे हो, परतु अब युद्ध-चक्र शुरु हो जानेके उपरात उसे गति देनेवाला हाथ ही उसमे उलझ

गया है। अब यंत्र उस हाथके काबूमे नही रहा। ऐसी लडाईमेसे इष्ट निष्पत्ति, निश्चित निष्पत्ति, नियोजित निष्पत्ति होना अशक्य है।

तब हम इसमे शामिल क्यो हो? फलाना युद्धमे शामिल हो गया, ढिमाका शामिल हो गया, इसलिए हमारा भी शामिल होना कहातक उपयुक्त है? बुद्धिमान लोगोको इसका विचार करना चाहिए। सिर्फ हिंदुस्तानके बुद्धिमानोको नही, दुनियाभरके समझदार लोगोको इसका विचार करना चाहिए। 'जिस युद्धसे हमारा अभीष्ट परिणाम नही निकल सकता, ऐसे अनाडी, स्वैर, जडमूढ, युद्धमे हम शरीक हो या न हो?' इसका उत्तर एक ही हो सकता है—'शरीक होना मुनासिब नही है।'

एक बार शरीक न होनेका निश्चय हो जानेके बाद दूसरा सवाल यह होता है कि हमारा तटस्थ प्रेक्षक बनकर रहना कहातक उचित होगा? हमारे सब भाई ऐसे युद्धमे फस गये है जो कि अब उनके काबूमे नही रहा है, उलटे, उनकी छातीपर सवार हो गया है। 'उनकी ऐसी बेबसीमे क्या हमारा युद्धमे शामिल न होना काफी होगा? क्या हमारा तटस्थ साक्षी होकर रहना उचित होगा?' —इस प्रश्नका कोई भी सयाना आदमी यही उत्तर देगा कि तटस्थ रहकर देखते रहना उचित नही है।

तो अब दो बाते पक्की हो गई। तुम कॉलेजके विद्यार्थी हो। आगे चलकर दुनिया तुम्हारे ही हाथोमे आनेवाली है। तुम इस प्रश्नका निष्पक्षपात रीतिसे विचार करके निर्णय दो। देखो, यह बात तुम्हे कहातक जचती है। थोडी देरके लिए यह भूल जाइए कि यह युद्ध अत्यत हिंसक है। लेकिन जो युद्ध मनुष्यके वशमे नही रहा, वरन् मनुष्य ही जिसके अधीन हो गया है, उस युद्धमे सम्मिलित होना उचित नही है—यह पहला सिद्धात है। दूसरा सिद्धात यह है कि जो लोग इस युद्धमे शरीक हुए है, उनका विनाश स्पष्टरूपसे देखते हुए भी युद्धमे शामिल न होनेवाले शेष लोगोको तटस्थ रहकर देखते रहना शोभा नही देता। ये दो सिद्धात निश्चित हुए। अब आगे क्या हो? अगर चुपचाप नही बैठना है तो क्या किया जाय? इसका विचार करनेपर हम काग्रेसी लोग जो कुछ कर रहे है, उसकी उपयुक्तता आपके ध्यानमे आयेगी। यह युद्ध आरभ करके जगत्मे विचारोकी जो भूमिका आज उपस्थित की गई है, उसकी विरोधी दूसरी विचारसरणि और भूमिकाका निर्माण करना हमारा कर्तव्य हो जाता है। यह तीसरा सिद्धात है।

लोग पूछते हैं, "अजी इससे क्या होगा ? सभी लोग इस युद्धमे शामिल हो गये हैं। तुम्हारे मुट्ठीभर आदमियोके प्रतिकार करते रहनेसे क्या होने-जानेवाला है ?" मै कहता हू, "तो फिर क्या मेरे पहले दो सिद्धात फिजूल गये ?" इससे क्या होगा, सो बादमे देखा जायगा। पहले अपना कर्तव्य निश्चित कीजिए। युद्धकी भूमिकाकी विरोधी भूमिका बनाना हमारा कर्तव्य साबित होता है न ? इसका क्या कोई नतीजा नही होगा ? क्यो नही होगा ? विरुद्ध भूमिकाका क्रियात्मक विचार तो उपस्थित कीजिए। मन्तव्यो और विचारोकी शक्तिपर भरोसा क्यो नही है ? मै यह नही कहता कि विचारोकी क्रियात्मक भूमिकाका निर्माण करनेसे वर्तमान युद्ध बद हो जायगा। ऐसी कोई आशा मुझे नही है। परतु बुद्धिमान मनुष्य अगर विरुद्ध विचारोकी भूमिका अपने मनमे और जनतामे दृढ करेगे, तो मानसिक शक्तिका एक फ्रट (मोर्चा) बन जायगा। और जब युद्ध कुठित होगा या बद होगा, उसके उपरात तुम्हारे विचारोकी भूमिका जाग्रत होगी और उस समय मानव-समाजकी नवरचनाके कार्यके तुम्हारे हाथोमे आनेकी सभावना होगी। उस दिनके लिए क्या आजहीसे तैयारी नही करनी होगी ? करनी ही चाहिए। लेकिन जब हम वह तैयारी करने लगते हैं, तो सरकार कहती है, "हम तुम्हे रोकेगे।" लेकिन ऐसा मोर्चा बनाना हमे अपना कर्तव्य प्रतीत होता है। इस मोर्चेकी बदौलत युद्ध-समाप्तिके अनतर हम ससारको निश्चित मार्गपर मोड सकेगे। ये मतवाले आज युद्धमें चूर है। युद्ध अब उनके हाथोमे नही रहा। निश्चित फल पानेकी कोई आशा नही रही। इसलिए जो समझदार लोग युद्धसे बाहर रहना चाहते हैं, उन्हे युद्ध-प्रतिकारकी भूमिका रचनी चाहिए। कारण, युद्धके बाद इन लोगोके शरीरोंकी तरह बुद्धि भी थक जायगी, बल्कि शरीरसे बुद्धि ज्यादा थकी हुई होगी। आप ऐसी भूमिका रचिये कि उन्हे सहज ही आपके रास्तेपर आना पडे। इसलिए इसमे सख्याका सवाल नही है। जिनका दिमाग साबित है, वे मार्ग-दर्शन करनेके अधिकारी है। नियोजित समाज-रचना करने-का कार्य उन्हींके जिम्मे आनेवाला है। इसलिए युद्ध-विरोधी विचारकी सक्रिय भूमिकाका निर्माण करना उन्हींका कर्तव्य है।

लेकिन यह कर्तव्य हमे आराममे कौन करने देगा ? विद्यमान राज्यकर्ता और व्यवस्थापक हमारा दडन और दमन अवश्य करेगे। अगर वे ऐसा करेगे तो वह भी एक अन्याय ही होगा। और अन्यायका प्रतिकार करना तो हमारा परम कर्तव्य है।

साराश, युद्ध किन कारणोसे शुरू हुआ इसका विचार करके उसके विरुद्ध कारणोका निर्माण करना हमारा कर्तव्य है। हमारा पहला सिद्धात यह है कि अन्यायका प्रतिकार करना ही चाहिए। दूसरा यह कि प्रतिकारकी रीति भिन्न होगी, उसका हथियार अनोखा होगा। ससारको गाधीजीकी यह देन है। अन्यायके प्रतिकारका उनका तरीका अगर ससार स्वीकार कर लेता, तो यूरोपमे आज जो दृश्य दिखाई देता है, वह न दिखाई देता। उस दिन रिवनट्रॉपने कहा न, कि अब यूरोपकी शातता भग होनेका डर ही नही है। क्यो ? इसलिए कि यूरोपकी सारी जनता नि शस्त्र बना दी गई है और उसके बदोवस्तके लिए जर्मनीके टैंक जहा-तहा गश्त दे रहे है। ये उन्मत्त लोग अग्रेजोसे ही यह गुरुमत्र सीखे है। अग्रेजोने हिदुस्तानके हथियार छीन लिये और वे सोचने लगे कि 'अब हम कुशल है। इनके पास हथियार नही है और हम शस्त्रास्त्रोसे लैस है। अब मनमानी हुकूमत करनेमे हर्ज नही है।' रिवनट्रॉप भी यही कहता है। जो उसका सूत्र है वही और सबका है। दीगर फुटकर भेद भले ही हो, लेकिन सूत्र एक ही है। शातिके लिए लोगोको नि शस्त्र बना देना और व्यवस्थापकोका नखशिख सुसज्जित हो जाना—यही इग्लैड, रूस, जापान और अमेरिका इन सबकी युक्ति है।

कार्लमार्क्सने एक बडा भारी सिद्धात पेश किया है। उसे जाननेके बाद गाधीजीके दिये हुए विचारकी महिमा आपके ध्यानमे आयगी। कार्लमार्क्सका नाम तो आप जानते ही है। उसकी किताबे भी आपने पढी होगी।

उसका यह सिद्धात है कि जब कोई प्रमेय ससारमे प्रसृत होता है, तो उससे कुछ फायदे होते है और कुछ नुकसान भी होता है। एकतंत्र राज्यपद्धति, पूजीवाद आदि किसी भी पद्धतिको ले लीजिए। जवतक लाभकी मात्रा अधिक और हानिकी मात्रा कम होती है, तभीतक वह प्रमेय टिकता है। लेकिन जब फायदेकी बनिस्बत नुकसान ही ज्यादा होने लगता है, तो एक तीसरा तद्विरोधी प्रमेय ससारमे प्रवृत्त होता है और उस पुराने प्रमेयपर आक्रमण करता है। इस आक्रमणमेसे एक तीसरा ही तत्त्व उदय होता है, जिसमे पहलेके दोनो तत्त्वोके गुण ही शेष रह जाते है। उदाहरणके लिए वर्णव्यवस्थाका सिद्धात ले लीजिए। समाजमें मनुष्योके भिन्न-भिन्न समूहोकी कार्य-क्षमता भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। इन समूहोको उनकी विशेष भूमिकाके अनुरूप काम सौपा जाता है। इस व्यवस्थाको वर्ण-व्यवस्था कहते है। इस व्यवस्थामे गुण और दोप दोनो है। भिन्न-भिन्न

शक्तियोका भिन्न-भिन्न सगठन करना इसका गुण है और उच्च-नीच-भाव एव परस्पर-विरोध इसके दोष है। परतु जबतक गुणोका अश अधिक रहेगा, तबतक यह व्यवस्था बनी रहेगी। लेकिन जब उच्च-नीच-भाव और पारस्परिक हित-विरोध जैसे दोष प्रकट होकर जोर पकडने लगते है, तो उनके खिलाफ 'अभेद', 'अभेद', 'अभेद', 'साम्य', 'साम्य', 'साम्य',का एक ही तत्त्व वेगके साथ अग्रसर होता है। इन दिनोका सघर्ष होगा और उस सघर्षमेंसे एक ऐसा तीसरा तत्त्व उदय होगा, जिसमे वर्ण-व्यवस्थो और अभेदवादके भी गुण होगे, ठीक उसी तरह जिस तरह कि हम कलमे बाधते है। नीबूपर मोसबीकी कलम बाधते है—जिससे खट-मिट्ठा सतरा पैदा होता है, जिसमे नीबू और मोसबी दोनोके गुण होते है। लेकिन यह सामाजिक क्रिया कोई योजना-पूर्वक नही करता। वह अपने-आप होती रहती है। एक तत्त्वके अदर छिपे हुए दोष प्रकट होने लगते है और उसीकी कोखसे तद्विरोधी दूसरा तत्त्व पैदा होता है। जैसा कि बुद्धने कहा है—'तदुद्भाय तमेव खादति'। 'उसमेंसे पैदा होकर उसीको खाता है'। जिस प्रकार यह तीसरा तत्त्व अपने-आप तैयार होता है, उसी प्रकार प्रतिकारका यह नया तरीका मार्क्सके सिद्धातानुसार इतिहासमेंसे ही पैदा हुआ है। गाधी केवल निमित्तमात्र हुआ है।

आजतककी यह प्रणाली थी कि सशस्त्रोंको परास्त करके हम खुद विशेप सगठित और विशेष सुसज्जित रहे। उसमेसे अब दूसरी यह प्रणाली उत्पन्न हुई कि सामनेवालेको पूरी तरह नि.शस्त्र बनाकर हम खुद सशस्त्र रहे। अब उसीमेंसे इन शस्त्रहीन लोगोको प्रतिकारकी यह नई युक्ति सूझी है। इस सूझका निमित्त गाधी है। वह न होता तो दूसरा कोई हुआ होता। पैंतीस-चालीस करोड लोग अगर हमेशाके लिए गुलाम ही रहे, तो वे मनुष्य ही नही होगे। और अगर वे मनुष्य हो, तो उनके लिए स्वतत्र होनेका रास्ता होना ही चाहिए। वह रास्ता उन्हे सूझता है, इसीमे उनकी मानवता है। इस सिद्धातको 'वितर्कवाद' कहते है। सामान्य तर्कसे यह विशेष और भिन्न है, इसलिए उसे 'वितर्क' यह पारिभाषिक सज्ञा दी गई है। सबसे पहले पूर्ववर्ती तर्कका विरोधी तर्क उत्पन्न होता है, फिर उन दोनोका समन्वय होकर उन दोनोमेंसे तीसरा तर्क उत्पन्न होता है—यह वितर्ककी प्रक्रिया है। यह 'वैतर्किक सरणि' मैंने सक्षेपमे आपके सामने उपस्थित की है।

समूचे राष्ट्रोके नि शस्त्रीकरणकी प्रक्रिया मध्ययुगके लोगोकी खोपडीकी उपज है। जिन लोगोने समूचे राष्ट्रको नि शस्त्र बनाया और ऊपरसे उसकी रक्षाकी जिम्मेदारीको स्वीकार किया, उन्होने एक बडा ही खतरनाक प्रयोग किया है। अग्रेजोने हिंदुस्तानको नि शस्त्र कर दिया। लेकिन आज इग्लैडके लोग जरूर महसूस कर रहे होगे कि हमने यह कोई अक्लका काम नही किया। इसीलिए अब कहने लगे है कि "आओ, लडाईमे शामिल हो, हम तुम्हे हथियार चलाना सिखाते है।"

लेकिन उनका यह उत्पाती प्रयोग एक दृष्टिसे बडा लाभकारी साबित हुआ। क्योकि नि शस्त्र होनेके कारण ही हम प्रतिकारके इस अनोखे शस्त्रका आविष्कार कर सके। गाधी तो केवल उसे व्यक्त करनेवाला मुख है। गाधीके रूपमे हिंदुस्तानकी सारी प्रजा बोलती है। बीस वर्षतक उन्होने इस नये शस्त्रकी महिमा लोगोपर प्रकट की। तलवारकी शक्ति भी कोई स्वतत्र शक्ति नही है। तलवार भी आखिर लोहा ही तो है। वह तो खदानमे पडा ही है। उसे कारीगरीसे उपयोगी आकार दे दिया गया, तो भी आखिर लोहा ही है। घडा और मिट्टी क्या अलग-अलग है? शस्त्र जड ही है। शस्त्रके पीछे चेतन शक्ति है। इसलिए उसमे बल आ जाता है। अगर चेतन शक्ति न हो, तो वह तलवार या बदूक अपने-आप नही चलती। तलवार या बदूककी शक्ति चलानेवालेपर, धारण करनेवालेपर, निर्भर करती है। पहले यह बात समझमे नही आती थी। परतु परिस्थितिकी प्रेरणासे गाधीके ध्यानमे यह बात आ गई कि शस्त्रकी शक्तिका आधार चैतन्य है।

नही तो हथियार होते हुए भी कैसी फजीहत होती है, इसका एक किस्सा हमारे एक मित्र सुनाया करते है। एक सज्जनके घरमे चोर घुस गये। चोरोको देखते ही उसके होश-हवास उड गये और वह चिल्लाने लगा, "अरे मेरी बबूक! बबूक! बबूक!!" उससे 'बदूक' शब्द भी नही कहते बना। बदूक उसके होती भी किस कामकी। हा, अगर चोर अपनी बदूक लाना भूल गये हो, तो उन्हे अलबत्ते उसका उपयोग हो सकता था।

भावार्थ यह कि शस्त्र स्वतत्र रीतिसे काम नही कर सकते। अगर हम नि शस्त्र न होते तो यह पृथक्करण हमारी समझमे न आता। परिस्थितिकी निरपेक्ष कल्पना सहसा सूझती भी नही। ऋषियोको भी विचार और स्फूर्ति तथा प्रेरणा

परिस्थितिमेसे ही मिलती है। गाधीको यह जो स्फूर्ति हुई उसमे उनकी वुद्धिकी कुछ विशेषता जरूर है, परतु उसका वास्तविक कारण भी हिंदुस्तानकी परिस्थिति ही है।

इस शस्त्रका भला-वुरा प्रयोग हमने वीस सालतक किया और यह अनुभव हुआ कि नि शस्त्र होते हुए भी इस युक्तिकी वदौलत हम लड सकते है। लेकिन लोग पूछते है, "इसका क्या परिणाम निकला ?" मै कहता हू, "अरे परिणाम-वादियो, जरा सव्र तो करो। तुमने दस हजार वर्षतक हिसाके प्रयोग देखे है। क्या अव भी हिंसाके प्रयोग होना वाकी है ? इतने वर्षोके वाद भी फिर नित्य शस्त्र चलाने ही पडते है न ?" छुटपनमे हम रटा करते थे। 'चटनीवाला रातदिन पीसता रहता है।' उसी तरह ये तलवरिये रातदिन तलवार घिस-घिस घिसते आये है। इन लोगोको इतना समय दिया, इतना मौका दिया। हमे तो वीस ही साल हुए। हमे भी तो प्रयोग करनेके लिए मौका दोगे ? यह भी तो देखो कि हमने वीस सालमे कितनी योग्यता प्राप्त की।

नागपुर जेलमे नित्य इसकी चर्चा हुआ करती थी। वहा जमा हुए सव 'सत्याग्रही' (!) ही थे 'मिथ्यावादी' (!) कोई नही थे लेकिन हम सोचते रहते थे कि ऐसे दिखावटी साधनोसे जो प्रयोग किया या प्रयोगका स्वाग रचा, उसका भी अगर इतना असर हो सकता है, तो असली चीज प्रवृत्त होनेपर कितना प्रचड कार्य होगा ?

दस हजार सालतक हिंसाके प्रयोग करते रहनेके वाद भी उसकी यह दशा है और हमारी टूटी-फूटी अहिंसाका प्रयोग केवल वीस ही सालका है, तो भी हम इतना प्रतिकार कर सके। तो वतलाइए क्या हम आगेके लिए आशा नही कर सकते ? कम-से-कम इस शकाकी तो गुजाइश है कि शायद हिंसा असफल साबित हो और अहिंसाके मार्गसे ही वहुत-सा कार्य हो जाय। यह शका भी अगर तुम्हारे दिलमे पैदा हो गई, तो मै समझूगा कि मेरे व्याख्यानसे वहुत वडा काम हो गया।

अगर यह विचार यूरोपके गले उतर जाता, तो आजकी परिस्थितिमे हिटलरको चैन नही पडता। वह देशके वाद देश फतह करता चला गया। उधर रूस जैसे प्रतापी राष्ट्रसे उलझ गया। ऐसी हालतमे भी इग्लैंडको जर्मनीपर धावा वोल देनेकी हिम्मत नही हुई। वहुतोको इस वातका आश्चर्य हुआ। वे सोचते

लगे कि जर्मनीपर हमला करनेके लिए इससे अच्छा मौका और कौन-सा हो सकता था ? लेकिन इग्लैंड एक कोनेमे चोरी-चुपकेसे लीबियामें लडने लगा। साराश, इग्लैंड-सरीखे बलवान्, सामर्थ्यशाली और सपन्न राष्ट्रको भी प्रतिकार करना इतना मुश्किल मालूम होता है, तो दूसरे राष्ट्र क्या करे ? कर ही क्या सकते है ? चुपचाप बैठे और टैकके आते ही उसके सामने सिर झुका दे। और कुछ सूझता ही नही।

लेकिन गाधीजीने हमे यह नया हथियार दिया है। अगर प्रतिकारका व्रत लेना है तो इस हथियारके बलपर ही लिया जा सकता है। तलवारके बलपर अगर प्रतिकारकी शपथ ली जाय, तो जबतक तलवार हाथमे है, तभीतक आप उस शपथको निबाह सकेगे। तलवार हाथसे गिरते ही व्रत खुल जायगा, उसका पारण हो जायगा, एकादशी समाप्त होकर द्वादशी शुरू हो जायगी। अन्यायके प्रतिकारकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिए अहिंसाका ही आश्रय जरूरी है। जो अहिंसक प्रतिकारका व्रत लेगा वह पुरुष या वह स्त्री जहा खडी हो वहीसे प्रतिकार शुरू कर सकती है।

इसलिए आप इस सारी परिस्थितिका शातिपूर्वक विचार कीजिए। कहा जाता है कि महाराष्ट्रके लोग बुद्धिवादी और तार्किक है। महाराष्ट्रपर लगाया जानेवाला यह बुद्धिवादका आरोप अगर सही होता, तो मुझे आनद हुआ होता। लेकिन मुझे दु ख है कि यह आरोप वास्तविक नही है। महाराष्ट्र एक तरहकी तामसी श्रद्धासे प्रेरित हुआ है। हम समझते है कि हमारा वह पुराना मराठी बाना और नाना फडनवीसकी परपरा हमारे खूनमे है। भाई मेरे, अब वह नाना फडनवीसकी पुरानी विद्या और परपरा इस बदली हुई परिस्थिति और समयमे बिलकुल निरुपयोगी और बेकार साबित होगी। ये लोग कहते है कि नाना बडा बुद्धिमान था और इसलिए उसने बडी सिफतसे राज्यकी रक्षा की। लेकिन नानाकी बुद्धिमानी इस बातमें थी कि वह भाप गया था कि अग्रेजोका शासन हिंदुस्तानमे जमनेवाला है। ये लोग कहते है कि अहिंसक प्रक्रिया हमारे खूनमे नही है, हमारी विचारधारामे नही है। लेकिन ज्ञानदेव, तुकाराम आदि सतोने जिस प्रक्रियाको गौरवान्वित किया, वह हमारे रक्तमे नही है, यह माननेके लिए मै तैयार नही हू। लेकिन अगर ऐसा ही हो तो समझ लीजिए कि आप हमेशाके लिए पिछड जायगे। अब फिरसे आप कभी समाजका नेतृत्व नही कर सकेंगे। उस

पेशवाई और नाना फडनवीसकी परपराके भरोसे बैठोगे तो बैठे ही रहोगे; उठ नही सकोगे।

जिस शस्त्रके आधारपर दुर्बल भी बलवान बन सकता है, उसे चलानेकी विद्या अगर तुम खुद सीखोगे, दूसरोको सिखाओगे तो युद्धके बाद शरीर, बुद्धि और प्राणके थके हुए लोगोका नेतृत्व सहज ही तुम्हे प्राप्त होगा।[१]

(सर्वोदय जनवरी, १९४२)

: १२ :

तीन मुख्य वादोंकी समीक्षा

आज मै जो कहना चाहता हू उसे कहनेके पहले थोडी-सी प्रस्तावना करनी होगी। एक मित्रकी चिट्ठी आई है। वह लिखते है, "कृपया हिंदीमे बोले"। इसमेंसे 'कृपया' शब्दको मै स्वीकार करता हू। याने 'कृपया' मराठीमे बोलनेवाला हू। नागपुर-जेलमे हमारी चर्चा और व्याख्यान सदैव हिंदीमे ही होते थे। वहा जो सत्याग्रही थे उनमेसे अधिकाश हिंदी जानते थे। मराठी जाननेवाले थोडे ही थे। इसलिए उनसे हिंदीमे ही बाते और चर्चा हुआ करती थी। इस प्रकार हिंदीके द्वारा हमें एक-दूसरोके विचार ज्ञात हुए और सहवासमे आनद मालूम हुआ। फलत अब मुझे व्याख्यान देने लायक हिंदीका अभ्यास हो गया है।

लेकिन यहा मराठीमे बोलनेमे मेरी तत्त्व-दृष्टि है। हमे अपनी राष्ट्रभाषा हिंदी अथवा हिंदुस्तानी अथवा उर्दू अवश्य सीखनी चाहिए। सभी प्रातोके लोगोको सीखनी ही चाहिए। लेकिन साथ-साथ यह भी जरूरी है कि जो लोग दूसरे प्रातोमे आकर रहते है, वे भी उन प्रातोकी भाषाए समझने और बोलने लायक सीखे। अन्यथा समूचे राष्ट्रकी सधि नही जुडेगी। मेल दोनो तरफसे होता है। विभिन्न प्रातीय भाषाभाषियोको राष्ट्रभाषा सीखनी चाहिए और हरएक प्रातमे

---

[१] वासुदेव आर्ट्स कालेज (वर्धा)के स्नेह सम्मेलनके अवसरपर (१४ दिसबर, १९४१ को) दिया हुआ भाषण।

रहनेवाले अन्य प्रातीयोको स्वदेशी धर्मके अनुसार दयालुतासे उस प्रातकी भाषा अवश्य सीखनी चाहिए। यह तत्त्व-दृष्टि तुम्हे उपलब्ध करानेकी कृपा करके अर्थात् 'कृपया' मै मराठीमे बोलनेवाला हू।

विद्यार्थियोके लिए हाल हीमे मेरा एक व्याख्यान हो चुका है। मै मान लेता हू कि आप लोगोमेसे अधिकतर लोगोने वह सुना होगा। उस व्याख्यानमे मैने एक विचार पेश किया था। वही विचार मै सब जगह उसी भाषामे पेश किया करता हू। कारण मेरे दिलमे वह उसी भाषामे जम गया है। वह विचार यह कि सपूर्ण स्वतत्रता पर अगर किसीका अबाधित और निरकुश अधिकार हो सकता है तो विद्यार्थियोका। दूसरोके लिए बधन होते है और वे उचित भी होते है। परतु विद्यार्थीको कोई बधन नही होना चाहिए। इस अधिकारका अमल अगर अबतक शुरू न किया हो, तो आज शुरू करो। विद्यार्थी एक हैसियत है। उस हैसियतको लक्ष्य करके मै बोल रहा हू, विद्यार्थी व्यक्तिकी दृष्टिसे नही। एक व्यक्तिके नाते उसे अनेक बधन होना सभव है। लेकिन विचार या सत्यका शोध करते समय सपूर्ण और केवल विद्यार्थीकी ही हैसियत होनी चाहिए। अमुक विद्या इसलिए ग्राह्य नही है कि उसे अमुक महात्मा, गुरु या सत सिखाता है। 'यह सतवाणी है, यह हमारे पथकी वाणी है इसलिए प्रमाण है', इस तरहका बोझ ज्ञानार्जनके विषयमे या विचार बनानेके विषयमे उसके ऊपर नही होना चाहिए। विद्यार्थी-व्यक्तिपर पुत्र, मित्र, शिष्य, या दूसरी हैसियतसे अनेक बधन लागू हो सकते है। पर विद्यार्थीके नाते सपूर्ण स्वतत्रता ही तुम्हारा अधिकार है। यह बहुत महत्त्वपूर्ण, बिलकुल मूलभूत, अधिकार है। इस मूलभूत अधिकारकी अगर तुम अवहेलना करोगे या अवहेलना होने दोगे, तो सच्ची विद्या प्राप्त होनेकी आशा नही रहेगी।

आजकल जर्मनी, रूस, इत्यादि सभ्य राष्ट्रोमे इतिहास, सस्कृति, व्यापार, भूगोल, इत्यादि सिखानेके बहाने विद्यार्थियोका यह अमूल्य अधिकार छीन लिया गया है। गणेशजीकी मूर्ति बनानेवाला आजका शौकीन मूर्तिकार यह भूल जाता है कि 'गणपति' नामक एक तत्त्व है और मिट्टीको मनमाना आकार दे देता है। मूर्तिकार समझते है कि गणपतिकी प्रतिमा बनाना हमारे हाथकी बात है। इसलिए उसे अपनी मर्जीका आकार दे देते है। कोई उसके हाथमे त्रिशूल और बल्लम दे देते है, कोई चरखा देते है और कोई तो उसे सिगरेटका चस्का

लगा देते है। इस तरह बेचारे गणेशजीकी मिट्टी पलीद की जाती है। वही हाल विद्यार्थियोका होनेवाला है। सयाने विद्यार्थी इसके लिए तैयार नही थे; आज भी नही है। तुम्हे ऐसी दुर्दशा सहनेके लिए हरगिज तैयार नही होना चाहिए। जर्मनीमे क्या होता है? 'विद्यार्थीको कौनसी विद्या सिखाई जाय, कौन-से ढाचेमे ढाला जाय', यह सरकार तय करती है। विचारो और गुणोका नियत्रण तथा नियमन सरकार करती है। सरकारको जो विकार और विचार इष्ट जान पडते है, उन्हे भिन्न-भिन्न विद्यार्थियोके मगजमे ठूसनेका अमोघ साधन माने शिक्षक। सरकारके इष्ट विचारोकी दृष्टिसे शिक्षणकी योजनाए बनती है। ऐसी ज्यादतिया अगर तुम सह लोगे तो तुम्हारा, हमारा और ससारका बुरा हाल होगा। पूजीवादी राष्ट्र इस प्रकारकी योजनाए बनाया करते है। उनका पूरी तरह विरोध करना हमारा—विद्यार्थियोका—फर्ज है।

यह पहली बात है। यह उस ऋषिके ध्यानमे आया। इसलिए उस वैदिक ऋषिने कहा। क्या कहा उसने? "मेरे प्यारे शिष्यो, तुम बारह वर्षतक मेरे पास रहे, विद्या सीखे, लेकिन तुम मुझे अपना आदर्श न मानना। सत्यको ही प्रमाण मानो। मेरी कृतियो या शब्दोको प्रमाण मत मानो। मेरे शब्द और आचरण सत्यकी कसौटीपर परखो। जो खरे उतरे उनका स्वीकार करो। जो घटिया ठहरे उन्हे छोड दो। सत्यकी कसौटी हरएककी बुद्धिके लिए सहजगम्य है। उसे काममे लाओ।—'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'। उस ऋषिने कहा, 'हमारे केवल अच्छे चरित्र अपनाओ, बुरोको छोडो।' क्योकि वह यथार्थ ज्ञानदाता गुरु था। उसका बतलाया तत्त्व नवीन नही है। लेकिन उसका अमल नही होता। इसलिए अतिशय दयालु गुरुके नाते ऋषिने विद्यार्थियोको यह सदेश दिया। उसे खूब याद रखिए। अपना विचार-स्वातन्त्र्यका यह मूलभूत अधिकार अक्षुण्ण रखिए। उसे गवाइए नही।

मैने कहा कि स्वतत्र-बुद्धि विद्यार्थीका पहला और मुख्य लक्षण है। स्वतत्र-बुद्धि माने वह बुद्धि जिसपर कोई दबाव नही है। वही सत्याग्रही बुद्धि है। उस बुद्धिके द्वारा तुम ससारकी तरफ देखो। तुम्हे अनत चमत्कार दिखाई देगे। बुद्धिसे उन्हे समझो। इस युगमे खोखला भेजा रखनेकी गुजाइश नही है। अगर तुम अपने सुनिश्चित और पक्के विचार नही रखोगे तो उसमे किसी दूसरेके विचार घुस जायगे। आजकी दुनिया कहती है, 'दिमाग खाली नही रहना चाहिए।

उसमे कुछ-न-कुछ भरना ही चाहिए। सद्विचार भरो। और अगर सद्विचार नही भरना है तो आलू भरो, पत्थर भरो, जी चाहे सो भरो। इस युगकी यह प्रतिज्ञा है कि तुम्हारा सिर खाली नही रह सकता। खुद विचार न करोगे तो वह रेडियो रेक-रेककर तुम्हारी खोपडीमे विचार ठूसता है। समाचारपत्र विचार करनेको वाध्य करते है। बिना विचारका दिमाग रखना मभव नही है। इसलिए सत्याग्रही बुद्धि रक्खो। सद्विचार करो। सद्विचारोको दृढ़ करना और सचित करना, यही एक रास्ता है। अगर तुम कहोगे कि मै विचार नही वनाऊगा, तो लोग तुम्हे वनायेगे। वनो मत। दुनियाके हाथोमे महज मिट्टी वनकर न रहो।

आजकी दुनियामे उदासीन रहना असभव है। केवल एकातमे अध्ययन करनेकी गुजाइश नही है। समाजशास्त्रके विचार और अध्ययनके विना गति नही है। उसके विना किसी भी विषयका अध्ययन नही हो सकता। इतिहास, अर्थशास्त्र और राज्यशास्त्रका अध्ययन तो हो ही नही सकता। लेकिन गणित जैसे स्वतत्र और तटस्थ विषयका अध्ययन भी समाजशास्त्रके विना नही होता। साधारण नीति, गणित, साधारण विज्ञान, भौतिकशास्त्र—किसी भी विषयका विचार समाजशास्त्र-निरपेक्ष करना सभव नही है। मानो समाजशास्त्रमेसे ही ये सारे शास्त्र निकले हो। इसलिए नित्य जागरूक रहकर विधायक विचार करना नितात आवश्यक है।

आज ससारमे तीन वहुत वडे विचार-प्रवाह पाये जाते है। पहला 'फासीवाद' और 'नामीवाद' है। दोनो वस्तुत एक ही है। एक जर्मनीमे पैदा हुआ और दूसरा इटलीमे। वह किसी-न-किसी रूपमे सारे ससारमे है। हमारे हिंदुस्तानमे भी है। दूसरा साम्यवाद है। समाजवाद इत्यादि उसके पेटमे है। यह वाद रूसमे प्रवृत्त हुआ और दुनियाभरमे फैला। तीसरा महात्मा गाधीका विचार है। ये तीन ही यथार्थ विचार-प्रवाह है। इग्लैड, अमेरिका आदिके विचारोकी विचारकी दृष्टिसे कोई गिनती नही है। गिनती करनी ही हो तो ये 'फासी-नामी'के ही भाईवद है। विजय किसीकी भी हो, विचारकी दृष्टिसे इनमे कोई दम नही। इसलिए इनकी गिनती करनेकी जरूरत नही है। इनके विचार नष्ट होनेवाले है। इनकी विजय भी हो जाय तो वह उसी तरहकी होगी, जैसा कि वुझनेके पहले एक क्षणके लिए चिरागका वडा होना। अतमे इनका विचार नष्ट होनेवाला है।

इन तीनो वादोकी प्रगति हमारे सामने है। उनका तुम तटस्थभावसे खूब अध्ययन करो। इनमेंसे गाधीवादका तो उदय करीव-करीव हिंदुस्तानमे ही हुआ है। 'करीव-करीव' इसलिए कहा कि दूसरे देशोके विचारकोंने भी इस तरहके विचार व्यक्त किये है। प्राचीनकालमे कुछ व्यक्तियोने प्रयोग भी किये है। लेकिन इस सिद्धातको साकार वनाकर उसे सगुण रूप देकर उसके प्रत्यक्ष प्रयोग गाधीने ही और राष्ट्रीय पैमानेपर हिंदुस्तानमे ही किये है। इसलिए 'करीब-करीब' कहनेमे हर्ज नही है। गाधीके प्रयोगके लिए हिंदुस्तानमे अनुकूल परिस्थिति और वातावरण था।

दूसरे दो वाद यूरोपमे पैदा हुए—साम्यवाद और नाजीवाद। ये क्यो और कैसे पैदा हुए, इसका विचार हमे करना चाहिए।

मैंने अपने जीवनके विषयमे एक न्याय (नियम) बनाया है। वह आपके सामने रखता हू। वह न्याय है—'इद्राय-तक्षकाय स्वाहा'। सापोंसे तकरार हो जानेके कारण एक ब्राह्मणने सापोका यज्ञ किया। उसमे बहुत-से सापोंकी आहुतिया दी। लेकिन तक्षक इद्रके आसनके नीचे जा छिपा। इधर ब्राह्मणने कहा, 'तक्षकाय स्वाहा', लेकिन तक्षकका पता नही। तब तो ब्राह्मणने सूक्ष्मदृष्टिसे खगोलका निरीक्षण किया। उसे पता चला कि तक्षकके इद्राश्रित होनेके कारण आहुति व्यर्थ गई। इसलिए उसने कहा, 'इद्राय-तक्षकाय स्वाहा।' ब्राह्मणने उद्दडतासे दोनोकी आहुतिका सकल्प पढा। पृथक्करणका कष्ट नही किया। लेकिन इद्र तो अमर ठहरा। इसलिए उसकी आहुति होना असभव था। ब्राह्मणने पृथक्करणकी झझटसे बचना चाहा, इसलिए इद्रके साथ तक्षक भी अमर हो गया।

ऐसा कोई भी वाद नही जिसमें एक-न-एक गुण न हो। अगर हम किसी वादको सर्वथा दुष्ट या दोपयुक्त करार देकर उसके गुणोका भी त्याग करें तो वह वाद अमर हो जाता है। यदि किसी वादके गुणदोषोंका पृथक्करण न किया जाय तो दोषोंसे भरा हुआ वाद भी पनपता है। इसलिए हरएक वादमें जो गुण हो, उन्हे जान लेना जरूरी है। जिसमें गुण ही न हो, ऐसा वाद ही नही है। इसीलिए नाजीवादको सर्वथा दुष्ट करार देनेसे वह जोर पकडता है और पनपता है। हम उसके गुणोंको नही देख सकते और न साम्यवादके ही सत्यका अन्वेषण होता है। किसी भी वादके सिर्फ दोष ही देखनेसे वह खडित नहीं होता।

अगर हम हरएक वादका गुण अपना ले तो फिर उस वादमे स्थायी रहने लायक कुछ नही बचता। इस दृष्टिसे हम नाजीवादके गुणकी खोज करे। नाजीवाद एक प्रकारके पूर्व-अभिमानपर स्थित है। प्राचीन परपरा और पूर्व-इतिहासके अभिमानपर अधिष्ठित है। "हम जर्मन लोग श्रेष्ठ है। हमारे इतिहासमे भव्यता है। इसलिए परमात्मा या कालात्माने एक बडे महत्त्वका कार्य हमे सौपा है। हम अपनी पुरानी सस्कृतिका रक्षण और पोषण करके ही उस कर्तव्यको पूरा कर सकेगे। इसलिए इस जर्मन वशको अक्षुण्ण रखना चाहिए। हमारे अदर श्रेष्ठ गुण है। इसीलिए तो यह महत्कार्य हमारे सिपुर्द किया गया है। व्यक्तिकी तरह समाज और राष्ट्रमे भी विशेष गुण पाये जाते है। ये हमारे विशिष्ट गुण हमारा अपनापन, हमारा निजत्व है। हमारी सस्कृति शुद्ध है। हम शुद्ध रक्तके, शुद्ध बीजके, शुद्ध विचारके जर्मन लोग ही यह कार्य पूरा करनेके योग्य है। शुद्ध याने पूर्वपरपरासे प्राप्त। मेढकको मेढकोकी परपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। सापको सापोकी परपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। शेरको शेरोकी परपरासे मिले हुए गुण शुद्ध है। उसी प्रकार हमे हमारी परपरासे मिले हुए विशिष्ट गुण ही हमारी सस्कृति है। इसलिए हमे जर्मनवशका अभिमान रखकर अपनी परपराकी रक्षा करनी चाहिए।"

नाजीवादमे दूसरे दोष होगे, लेकिन यह एक बडा आकर्षक गुण है। हा, आकर्षक होते हुए भी वह सर्वथा ग्राह्य नही है। पूर्वपरपराका सातत्य बनाये रखना, उसका धागा टूटने न देना, सस्कृतिकी परपरा अविच्छिन्न रखनेके लिए अपने पूर्वजोकी सस्कृतिके प्रति आदर तथा प्रेम रखना—यह उसका वास्तविक ग्राह्याश है। वशाभिमान रक्षण करने-जैसी वस्तु नही है।

इसके विपरीत साम्यवादमे दूसरे ही प्रकारका गुण है। वह देखता है कि सारी दुनियाके गरीव उत्तरोत्तर अधिक गरीव होते जाते है और अमीर ज्यादा अमीर। गरीवोके पेटकी खाई गहरी होते-होते प्रशात महासागरके बरावर हो गई है और श्रीमानोके धनकी पहाडी ऊची होते-होते हिमालयके सदृश हो गई है। यह अतर सहा न जानेके कारण साम्यवाद पैदा हुआ। वह कहता है कि बहुमतके नामपर आज जो प्रणाली जारी है, वह यथार्थ लोकसत्ता नही है। सिर गिननेकी लोकसत्ता सच्ची लोकसत्ता नही है। क्योकि ऐसी लोकसत्तामे गरीवोके सिर श्रीमानोके हाथोमे रहते है। इसलिए गरीवोके मतदानका कोई मूल्य नही।

जबतक श्रीमतोका नाश नही होगा, दोनोको समान अधिकार प्राप्त नही हो सकते। मौजूदा मतदान-पद्धति सिर्फ आकारमे लोकसत्ताके समान है। हम आकारमे नही, अपितु प्रकारमे भी लोकसत्ता स्थापित करना चाहते है। वह पक्षपातहीन लोक-सत्ता होगी। आज यदि निष्पक्ष रहना हो तो गरीबोका पक्षपात करना ही होगा। आजतक समान-अधिकारके नामपर श्रीमानोकी प्रतिष्ठा खूब बढाई गई। समत्व, न्याय और समान-अवसरका स्वाग रचा गया। समान-अवसर माने गरीबोंकी पिसाई। गामा पहलवान और लकडी-पहलवानकी कुश्ती तय कराकर दोनोको समान-अवसर देनेका दम भरा जाता है। गामा पहलवानकी जीत निश्चित है। पहले गरीबोका उद्धार कीजिए, बादमे समान-अवसर आदि सिद्धातोकी बात कहिए। गरीबोके उद्धारके लिए चाहे जैसे साधनका प्रयोग करना पाप नही है। इस प्रकार साम्यवादमे गरीबोके प्रति पराकाष्ठाकी आस्थाका गुण है।

इस प्रकार दो गुणोकी बदौलत ये दो वाद ससार और हिंदुस्तानमे फैल रहे है। हमारे महाराष्ट्रमे भी फैलना चाहते है। मै महाराष्ट्रके ही विषयमे बोलता हू। क्योकि अगर मै महाराष्ट्रके दोष दिखाऊ तो वह मेरा प्रात होनेके कारण, गलतफहमी नही होगी। महाराष्ट्रमे 'हमारा महाराष्ट्रधर्म', 'हमारी पेशवाई' (पेशवाशाही), हमारा 'मर्द मराठा सिपाही', 'हमारी सस्कृति', 'हमारे समर्थ (रामदास) और उनकी बजरगबलीकी उपासना', आदि भावनाओको जो प्रोत्साहन देता है, उसके प्रति तरुणोमे आकर्षण पैदा होता है। इसी कारण महाराष्ट्रके तरुणको हिंदू महासभावालोके विचार पसद आते है। वह उन विचारोमे प्राचीन इतिहासके अभिमानका बहुत बडा गुण देखता है। दासनवमी (श्रीरामदास जयती), हनूमानजयती, भीष्माष्टमी, शिवाजी-उत्सव आदिसे प्रेरणा और आवेश मिलते है। अत. उस पक्षमे दूसरे कितने ही दोष क्यो न हो तो भी वह तरुणोको आकर्षक प्रतीत होता है। उसमे पूर्वपरपराके अभिमानका गुण है।

मुसलमानोमे यही विचार मुस्लिमलीगने फैलाया—'इस्लाम कितना वैभव-शाली था, हिंदुस्तानमे किसी समय उसका साम्राज्य किस प्रकार था', इत्यादि। पूर्वपरपराके अभिमानका गुण उसमे है।

इस प्रकार हिंदूसभा और मुस्लिमलीगका कार्य नाजी-परपराका है। वे जब आपसमे खुलकर बोलते है, तब कभी-कभी यह बात मान लेते है। आम तौरपर नही बोलते। लेकिन उनकी सहानुभूतिका स्थान वह है। शपथविधि, गुप्तता,

आदि सारे लक्षण विद्यमान है । वह हरा झडा, वह कुरानकी कसम, वह हनूमान-जीकी साक्षी, वह शपथ, वह ध्वज—यह सारा देखकर एक तरहका उत्साह मालूम होने लगता है। ऐसा अनुभव होने लगता है कि ये लोग हमे बिलकुल ही गलत रास्तेसे नही ले जा रहे है, पूर्वजोके परिचित मार्गसे ले जा रहे है। इस भावनाके आधारपर ये नाजी-सप्रदाय हिंदुस्तानमे बढे है ।

हिंदुस्तानकी गरीबी उपनिषत्के ब्रह्मके समान है, उसकी कोई उपमा या तुलना नही है। ब्रह्मके समान 'वह एकमेवाद्वितीय' है। इसलिए गरीबोके लिए आस्था और अमीरोके प्रति चिढ रखनेवाला साम्यवाद आकर्षक मालूम होता है और फैलता है।

इस तरह दो भिन्न कारणोसे ये दो भिन्नवाद आकर्षक हो गये है। पूर्व-परपराके अभिमानकी बदौलत नाजीवाद आकर्षक हो उठा है। हिंदू और मुसल-मानोको अभिमानका स्थान दिखाकर वह हिंदुस्तानमे फैला है। दरिद्रताके कारण साम्यवाद आसानीसे गले उतरता है। मै दोपाविष्करणके उद्देश्यसे इन वादोकी समीक्षा नही करता। क्योकि हमे केवल उनके गुण ही देखने है।

अब तीसरे वादकी समीक्षा करता हू। वह गाधीने उपस्थित किया है। हमे उसके रूपको भलीभाति समझ लेना चाहिए। कुछ लोग समझते है—यह बेचारा गुजराती 'सामलूभाई' (ढीलाढाला, पिलपिला आदमी) ठहरा। इसका क्या 'वाद-आद' हो सकता है। ये वेचारे गुजराती डरपोक, गाय-जैसे सीधे, सापको भी न मारनेवाले लोग है। इन्होने व्यापारके सिवा और कुछ नही किया है। तलवार कभी उठाई नही है। उस परपराका यह 'सामलू' है। उसका वाद उसी तरहके लोगोको जचेगा।

लेकिन मै तुमसे कहता हू कि बात ऐसी नही है। अगर ऐसी बात होती—याने इस वादमे डरपोकपन और 'सामलूपन' होता—तो एक महाराष्ट्रीके नाते मैने उसे कभीका फेक दिया होता। 'सामलूपन' कड़ुआ, मीठा, खट्टा, चाहे किसी भी तरहका क्यो न हो, मै तुमसे उसकी सिफारिश नही करूगा।

परतु मै कह चुका हू कि वस्तुस्थिति वैसी नही है। तुम जाच-पडताल कर देख लो। अगर इस वादकी जाच तुम नही करोगे तो मै कहूगा कि तुम विद्यार्थी बुद्धू बन चले हो। दूसरा आरोप नही करूगा। सिर्फ 'बुद्धू' कहूगा।

हिंदुस्तान आज डेढ सौ वर्षोसे नि शस्त्र है। न शस्त्र-शक्ति है, न द्रव्य-शक्ति

ही रह गई है। इस तरह यह एक केवल शक्तिहीन राष्ट्र था। इस राष्ट्रके सामने यह प्रश्न उपस्थित था कि वह कमर सीधी रखनेकी शक्ति कैसे हासिल करे। इस विषयमे विचार-मथन शुरू हुआ। 'शस्त्र और द्रव्य दोनो तरहकी शक्ति गायब हो जानेके बाद भी क्या कमर सीधी रह सकती है ? क्या अपनी पूर्वपरपरा-पर कायम रहते हुए यह सिद्ध हो सकता है' ? इस तरहके विचारका मथन शुरू हुआ। चालीस करोड लोगोमे सीधे खडे होनेकी शक्ति निर्माण करनी है।

किसीने समझा पाश्चात्योका अनुकरण करना चाहिए, उनकी विद्या सीखनी चाहिए। किसीकी रायमे धर्म-सुधारसे ही हमारी उन्नति होगी। धर्मसुधार-की शक्ति उत्पन्न करनेके लिए ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, थिओसॉफी आदि सस्थाए स्थापित हुई। ये सारे समाज ऊपरसे धार्मिक भले ही प्रतीत होते हो, उनकी जडमे दूसरी ही बात थी। 'हमारी द्रव्यशक्ति और शस्त्रशक्ति जाती रही, अब हम बुद्धिशक्तिके बल सीधे कैसे खडे हो सकेगे ?'—यह वृत्ति उन सबके पीछे थी।

बुद्धि-शक्तिकी प्राप्तिके लिए ही शिक्षण-विषयक सुधार शुरू हुए। बुद्धि-शक्ति ही एक मात्र आशा रह गई थी। इसलिए गाधीके पूर्वकालमे धर्म-सुधारके साथ शिक्षण-सुधार जोड दिया गया था। राजा राममोहन राय, स्वामी दयानद, देवेद्रनाथ ठाकुर, रानडे, रविबाबू, अरविंद प्रभृतिने बुद्धिके जोरपर आगे आनेका यत्न किया। जब शस्त्रकी ताकत न रही, द्रव्यकी ताकत न रही तो और क्या करते ?

शिक्षण-विषयक सुधारमे अग्रेजी विद्याका अनुसरण शुरू हुआ। तब दूसरा एक पक्ष सामने आया। वह कहने लगा "हमे अग्रेजीकी उपासना नही चाहिए। प्राचीन विद्याओको गति देकर नवीन स्वरूप दो।" इस विचारके अनुसार गुरुकुल आदि सस्थाए खुली। उसमेसे तीसरा आदोलन राष्ट्रीय शिक्षाका निकला। प्राचीन सस्कृत विद्या और नवीन विद्यासे लाभ उठानेका यह प्रयत्न था। ऐसा माना जाने लगा कि पुनरुज्जीवन और सुधारका शिक्षण ही राष्ट्रीय शिक्षण है। लेकिन तीनो प्रकारोके मूलमे विचार एक ही था। वह यह कि बुद्धिके द्वारा शक्ति निर्माण करेगे। शक्ति निर्माणके तीन द्वार है—धन, बल, और बुद्धि। लक्ष्मी और शक्तिके दरवाजे प्राय. बद हो गये। तब अग्रेजोसे टक्कर लेनेके लिए तीसरा विद्याका ही द्वार बाकी रह गया। इस विचारसे यह आदोलन शुरू हुआ। कई सुधारकोने उसमे भाग लिया।

लेकिन बुद्धिमे शक्ति कैसे आवे ? बुद्धिका क्या स्वतंत्र पोषण होता है ? क्या आचारहीन बुद्धि शक्तिशालिनी हो सकती है ? निराचार बुद्धि शक्तिशाली नही हो सकती। जबतक बुद्धि आचारमे परिणत करनेकी प्रक्रिया सिद्ध नही होती, तबतक स्वतन्त्ररूपसे बुद्धि शक्तिशाली नही होती। जब यह ध्यानमें आया, तब काग्रेस स्थापित हुई। उसके पहले बुद्धिमान लोग कहने लगे कि "आओ, हम गरीबोकी शिकायते दूर करनेके लिए अपनी बुद्धि काममे लाये, अर्थात् उसे सक्रिय बनाये। लेकिन शिकायते पेश करके उनका निराकरण करानेका प्रयत्न एक मर्यादातक ही सफल होता है। पूर्ण सफल नही होता। अव्यक्त शिकायतें व्यक्त हो जाती है। लेकिन बुद्धि जबतक क्रियात्मक नही होती, तबतक सफल नही होती। इसलिए काग्रेस शिकायतें तो पेश करती थी, लेकिन उसकी बात हवामे उड जाती थी। उसका प्रयत्न सफल नही होता था। क्यो नही होता था ? इसलिए कि शिकायतोके दूर होनेकी सभावना नही थी। सो कैसे ?—इसलिए कि सारी शिकायतोका मूल कारण, शिकायतोकी शिकायत, परतन्त्रता ही है।

यह बात काग्रेसके ध्यानमे आ गई। सहज ध्यानमे आनेवाली है। मनुष्य और सब डालिया काट सकता है, लेकिन जिस शाखापर वह खडा हो उसे नही काट सकता। अग्रेज सरकार कई सुधार कर सकती है। लेकिन उसकी सत्ता अकेली हमारी गुलामीकी डालपर खडी है। उस मुख्य शाखाको वह कैसे तोडेगी ? तुम बुद्धिवाद करके कितना ही समझाओ, जैसे इन्होने मुझसे कहा 'कृपया हिंदीमें बोलिए', उसी तरह तुम भी कहो, 'कृपया इतनी शाखा तोडिए', तो वह कैसे सुन सकती है ? यह कृपा उसकी जान ले लेगी। सरकार फुटकर टहनिया तोडेगी। कहेगी "कहनमें मदद करेंगे, मराठी-हिंदीको विश्वविद्यालयोकी परीक्षाओमे स्थान देंगे; लेकिन मुख्य शाखाको हाथ न लगाइए। 'स्वतन्त्रताकी जय' न बोलिए; 'अग्रेज सरकारकी जय' बोलिए।"

बात लोगोके ध्यानमे आ गई। जिस शाखापर अग्रेजोकी सत्ता खडी है, उसे काट डालिए कहनेसे सरकार कैसे काटेगी ? यह बात ध्यानमे आनेपर सवाल यह हुआ कि अब क्या करे ? तब पता चला कि शक्तिसे ही राज्य मिलते है और युक्तिसे यत्न होता है। मतलब, शक्ति प्राप्त करनी चाहिए। गुप्तरूपसे कार्य करना ही युक्ति है, ऐसा समझा जाने लगा। अब, 'अधिकारियोको मारें, षड्यन्त्र करके बम बनावें'

—इस प्रकारके विचार शुरू हुए। अफसरोके खून हुए। यह सब शुद्ध बुद्धिसे हुआ। जिन लोगोने बमका प्रयोग किया उनका स्मरण मैं भी पवित्र मानता हू।

लेकिन उन्हे क्या अनुभव हुआ ? बम बनानेके लिए पैसोंकी जरूरत है। शिवाजी महाराजने भी षड्यन्त्र किये। उन्हे भी साधन जुटाने पडे। उसके लिए सूरत शहर लूटना पडा। मराठोने बगालमे डाके डाले। अब ये लोग भवद्गीताकी दुहाई देकर सद्भावनासे डाके डालने लगे। लेकिन पहलेसे ही जो पेशेवर गरीब लुटेरे थे, वे भी डाके डालने लगे। इनकी अपेक्षा वे निपुण थे। उन्होने ज्यादा डाके डाले। लेकिन इसका लोगोको कैसे पता चले ? लोग कैसे जाने कि कौन-सा डाका किसका है ? बकरा क्या जाने कि छुरी किसकी है ? उसे क्या पता कि उसकी गरदन काटनेवाली छुरी उसे यज्ञके लिए मारनेवाले ब्राह्मणदेवताकी है, या मास बेचनेवाले कसाईकी ? लोग डाकोंको पहचान न सके। 'हमे बचाओ', इतना ही कहने लगे। इसलिए सरकारकी अच्छी बन आई। अराजक और डाकूमे फर्क न कर सकनेकी वजहसे बमोका मार्ग बेकार हुआ।

बादमे महात्मा गाधी आए। उन्होने कहा, "अराजकोका पथ तो ठीक है; लेकिन पद्धति सही नही है। मुख्य शाखा ही तोडनी चाहिए। इसलिए उनका पथ उचित है। लेकिन वह हिंदुस्तानमे हिंसासे हो नही सकता।" ससारमे कही नही हो सकता। सगठित हिंसापर रची हुई यह प्रक्रिया जब व्यापक परिमाणमे आजमाई जाय, तभी सफल हो सकती है। आजकी सरकारे अत्यत सगठित और व्यापकतम हिंसाकी सरकारे हैं। उतना व्यापक हिंसक सगठन प्रजा नही कर सकती। इसलिए उसकी हिंसा किसी कामकी नही साबित होती। प्रजाके हिंसक सगठनमेंसे शक्ति निर्माण नही होती। बहुत हो तो राष्ट्रप्रेमकी प्यास बुझती है। कुछ-न-कुछ करनेकी तमन्ना शात होती है। व्यक्तिगत सतोष मिलता है। लेकिन सगठनके लिए यह पद्धति उपयोगी नही है। राष्ट्रीय उत्थानकी दृष्टिसे कार्यक्षम नही है।

इसलिए गाधीने कहा, "आम जनताका खुले तौरपर सगठन करनेकी मेरी पद्धति ही परिणामकारक ठहरेगी। सरकार स्व-सत्तापर नही टिकती। लोगोंसे मिली हुई सत्तापर टिकी हुई होती है। उसे लोगोके आधारकी जरूरत होती

है। सरकार और लोग, इन दोनो हाथोसे राज्यकी ताली बजती है। आप अपना हाथ हटा लीजिए, उसका हाथ अपने-आप ढीला पड जायगा। लोग अपनी दी हुई सत्ता हटा ले तो सरकार नही टिक सकती। इस प्रकारके सगठन द्वारा ही हम प्रतिकारकी शक्ति निर्माण कर सकेगे।"

हिंदुस्तान इतना बडा चालीस करोडका राष्ट्र कैसे बना ? हमारी पूर्व-परपराके गुणकी बदौलत इतना बडा राष्ट्र बना। यह हलका-पतला राष्ट्र नही है। हमारे परमपूज्य राष्ट्र-कवि रवीद्रनाथ ठाकुरने भारतको **'एइ भारतेर महामानवेर सागरतीरे'** कहा है। सारी दुनियासे आ-आकर लोग यहा बसे है। सभी तो आक्रमण करके जबरदस्ती आकर नही बैठे है। हमने उन्हे जान-बूझकर आश्रय दिया। पारसियोने आक्रमण नही किया था। हमने समझ-बूझकर उन्हे जगह दी। हमारे राष्ट्रकी मर्यादाकी एक पुरानी परपरा है—हम दूसरोको अवसर दे सकते है और दूसरोपर आक्रमण नही करते।

इस परपरामेंसे गाधीको यह विचार मिला। हमारे पास प्रतिकारका शस्त्र है। शस्त्र माने शासन या नियमन करनेवाला। यह अर्थ हाथपर घटित होता है। हथियार तो शस्त्र ही नही है। वह औजार है, जड वस्तु है। वह स्वतत्र चीज नही है। उसकी दरकार नही।

हिंदुस्तानकी महान् आवश्यकता, उसके इतिहासकी एकमात्र माग, पूरी करनेके लिए यह विचार उत्पन्न हुआ। इसीलिए वह फैला। ससारमे इतरत्र अहिंसाको स्थान नही है। हिंदुस्तानमे तरुण भी इसकी चर्चा करते है कि राष्ट्रीय व्यवहारमे हिंसा बडी है या अहिंसा ? अहिंसाके मार्गपर यह बहुत बडी प्रगति है। हम यह नही कहते कि सब-के-सब फौरन अहिंसावादी बन जाये। सबको विचार ही करना चाहिए। आज तरुणोने भी हिंसाका नये सिरेसे विचार शुरू किया है, यह सच्ची प्रगति है। इससे अधिक तेजीसे गाधीका विचार फैलना मुमकिन नही था। फैलना भी नही चाहिए। धीरे-धीरे, विचार करनेके बाद, सोच-समझकर ही उसका स्वीकार होना चाहिए।

यह विचार-धारा हिंदुस्तानकी पूर्वपरपरामेंसे पैदा हुई है या नही ? मेरा मतलब हिंदुस्तानकी मुख्य पूर्वपरपरासे है, फुटकर प्रवाहोसे नही। हिंदुस्तानमें परपराके बहुत-से फुटकर प्रवाह है। मराठोकी, राजपूतोकी, सिक्खोकी, ऐसी कई परपराए है। लेकिन असख्य धर्मो और जातियोको एकत्र रखनेवाली जो

परपरा है, वही मुख्य परपरा है। उसीमेंसे इस विचारका निर्माण हुआ। उस परपराका अभिमान धारण कीजिए।

इस प्रकार नाजीवादका तत्त्व, अर्थात् उसका गुण, भी इस विचारसे भलीभाति मेल खाता है। जेलमे मैंने इस परपराका विचार किया। महाराष्ट्र और हिंदुस्तानका विचार किया। ठेठ वेद-कालसे लेकर आजतक सारे भारत के इतिहासमे जिन-जिन व्यक्तियोने क्राति की, उनका विचार किया। शक, हूण, द्राविड, आध्र, मुसलमान प्रभृतिमे हुए क्रातिकारक व्यक्तियोका इतिहास देखा। उसमे महाराष्ट्रकी परपरा इतनी छोटी ठहरती है, ब्राह्मणोकी इतनी क्षुद्र ठहरती है, कि उनका अलग विचार करनेकी जरूरत नही। हिंदुस्तानकी परपरा एक महान् वटवृक्षकी परपरा है। उस वटवृक्षका आश्रय करनेके बदले उसकी शाखाए काटकर सिर फोड लेना उदात्त अभिमानका लक्षण नही है। हिंदुस्तानकी परपरा हिंदू, मुसलमान, पारसी, सिक्ख, जैन, बगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि सबके श्रेष्ठ शास्त्रकारोकी और असख्य साधुसतोकी परपरा है। अगर मै इस परपराको छोड़ूगा तो अपने राष्ट्रका तेजोवध करूगा, राष्ट्रको खस्सी करूगा, इसके विषयमें मुझे सदेह नही रहा।

इस अर्थमे नाजीवादका पूर्वसस्कृतिके अभिमानका गुण भिन्न स्वरूपमे गाधीवादमे है। लेकिन उसका स्वरूप इतना भिन्न है कि उसमे नाजीवाद के वशाभिमानका दोष नही है। हमारी पूर्वपरपरा व्यापक है। इसलिए उसका अभिमान भी करीब-करीब विश्वव्यापी है। उस पूर्वपरपराका सातत्य बनाये रखनेका, उससे अनुसधान रखनेका, गुण गाधीवादमे है। वह 'नाजीवाद' के पूर्वपरपराके अभिमानके सदृश है। उतना ही आकर्षक भी है। लेकिन 'नाजीवाद'-के वशाभिमानकी सकुचितता उसमे नही है। इसलिए उसे अभिमान भी नही कह सकते। प्राचीन कालके सास्कृतिक प्रयत्नोसे अनुसधान रखना ही उसका मुख्य लक्षण है।

कुछ साम्यवादियोकी यह भाषा कि गरीबोका उद्धार करना चाहिए, गलत है। 'गरीबोका उद्धार करनेवाला, उन्हे उबारनेवाला, मैं अलग हू', यह भावना उसमे छिपी हुई है। 'अगर मै उन्हे न बचाऊ, तो उनका उत्थान नही हो सकता', यह मिथ्या अभिमान उसमे है। गरीबोका उद्धार उन्हीके हाथोमे है। गाधीने आम जनताको ऐसी शक्ति प्रदान की है। साम्यवादने रूसमे जो किया, वह यहा

नही हो सकता । रूस सरीखी सुविधा यहा असभव है । और न आवश्यक ही है । कारण उससे गरीबोको शक्ति नही मिलेगी । गरीबोका उद्धार गरीबोके ही द्वारा होना चाहिए । यह साम्यवादका सार है । उसे हम अपना लेते है । बादाम और दूधका भी शरीरके लिए उपयोगी अश ही हम स्वीकार करते है । साम्यवादके बारेमे भी सारासार विचार करना चाहिए । गरीबोका उद्धार गरीबोको ही करना चाहिए उसका यह सारभूत अश हमे स्वीकार कर लेना चाहिए और नि सार अश त्याग देना चाहिए ।

साम्यवादकी प्रक्रियामे हिसाके द्वारा क्रातिका प्रतिपादन है । यह उसका नि सार अश है । हिसाकी शक्ति जनताकी शक्ति नही हो सकती । विद्वत्ता भी आम जनताकी शक्ति नही है । बुद्धि तो मुट्ठीभर ब्राह्मणोकी शक्ति मानी जाती थी । वह उन्हीके ताले-कुजियोमे बद रहती थी । तलवार भी आम जनताकी शक्ति नही है । बूढे, स्त्रिया, बच्चे, अशक्त, इनकी वह शक्ति नही है । वह तो बत्तीस इच या चौतीस इच छातीवाले तगडे प्राणियोकी शक्ति है । इतने चौडे सीनेवाले ऊचे-पूरे प्राणी हमेशा सज्जन ही नही होते । उनकी शक्ति स्थायी नही होती । हिसाकी शक्तिसे जो अर्जन करोगे, उसे सभालनेके लिए निरतर हिसा ही करनी पडेगी । गरीबोकी, आम जनताकी, वह शक्ति नही हो सकती ।

जर्मनी द्वारा रूसके आक्रमणका नैतिक समर्थन नही हो सकता । लेकिन तात्त्विक समर्थन हो सकता है । रूसका फौजी खर्च सालाना सोलह सौ करोडका है । मामूली, शातिके समय इतनी प्रचड सैनिक शक्ति बढती हुई देख उसे अनिरुद्ध बढने देनेके लिए जर्मनी गधा नही है । रूस इतनी फौज किसलिए बढा रहा था ? क्या सिपाहियोको गौरीमैयाकी तरह सजाकर उनकी आरती उतारनेके लिए ? साम्यवादको ससारमे हिसासे रूढ करनेकी रूसने ठान ली है । इसलिए वह इतना फौजी खर्च करता है । साम्यवादी विचारोकी परपरा पनपने देना जर्मनीके लिए इष्ट नही है । इसलिए रूसकी ताकत तोड देना जर्मनीकी दृष्टिसे बुद्धियुक्त ठहरता है ।

रूसकी शक्तिसे लाभ उठाना इग्लैडकी दृष्टिसे बुद्धिमानीका लक्षण है । इग्लैड कहता है, "रूसकी फौजी शक्तिके प्रयोग द्वारा आज जर्मनीका सामना कर ले। साम्यवादसे बादमे निपट लेगे ।" रूस अमेरिकासे कहता है "भाई, हमने धर्मकी बिलकुल ही मिट्टी पलीत नही की है । तुम हमारी मदद कर सकते हो ।"

अर्थात् रूसको पाखडियोकी खुशामद करनी पडती है। यह क्या हो रहा है ? यह उस राष्ट्रकी परावलवी दशा है। क्या इससे साम्यवाद टिकेगा ? क्या वह सैनिक सत्तावादसे वच सकेगा ? अगर असाम्यवादी और वैषम्यवादी राष्ट्रोकी मददसे विजय भी होजाय, तो भी साम्यवाद नही रह सकता। पराजय हो तो विलकुल ही नही रह सकता। जो रूसमे सभव नही है—ससारमे कही सभव नही है—वह हिंदुस्तानमे कैसे हो जायगा ? हिंसा जनताकी शक्ति ही नही है। हम जनतामे तेज निर्माण करे।

हमने साम्यवादका सार—गरीवोकी उन्नति करनेके लिए, उन्हे अपना उद्धार अपने तई करनेको समर्थ बनानेकी आस्था—ग्रहण किया। नि सार वस्तु त्याग दी। नाजीवादका सदेश—पूर्वपरपरासे अनुसधानका गुण भी ग्रहण किया। लेकिन हमारे अभिमानको 'अभिमान' शब्द ही लागू नही है। इतना वह व्यापक है। जो राष्ट्र एकरगी है, उनका देशाभिमान सकुचित होता है। हिंदुस्तानकी परपरा मिश्र और व्यापक है। व्यापक भारतकी, इस महामानव-समुद्रकी, मिश्र परपराका अभिमान सकुचित हो ही नही सकता। वह निष्कलक है। इस प्रकार व्यापक भारतका अभिमान और गरीव लोगोकी शक्ति प्रकट करना—ये दो गुण दो वादोसे लेनेवाला यह तीसरा वाद मैने यथासभव तटस्थतासे तुम्हे वतलाया।

'यथा सभव' कहनेका कारण एक अर्थमे मै भी पक्षपाती हू। मै उस वादको मानता हू। वह मेरे जीवनमे दाखिल हो गया है। फिर भी, मै उसे जितनी तटस्थतासे रख सका, उतनी तटस्थतासे मैने आपके सामने रक्खा है। मेरा पहला सूत्र याद रहे। मै कहता हू इसलिए या गाधी कहते है इसलिए, उसे न स्वीकारिए। व्यापक वुद्धि और तटस्थ वृत्तिसे विचार कीजिए।

यह वतला चुका हू कि हिंसा जनताकी शक्ति नही है। अव यह दिखाना वाकी है कि अहिंसा जनताकी शक्ति कैसे हो सकती है ? याने अहिंसाको सामाजिक रूप कैसे दिया जा सकता है ? एक-एक व्यक्तिकी विजयके उदाहरण हमारे यहा और ससारमे पाये जाते है। एकनाथ महाराज, ईसा, सुकरात ने दृढताकी सामर्थ्य प्रकट की है।

प्रयोगकी प्रक्रिया ऐसी ही होती है। विज्ञानके क्षेत्रमे भी एक-एक व्यक्ति प्रयोगशालामे प्रयोग करता है। उसके सिद्ध होनेपर उस सिद्धातका व्यापक

प्रयोग अथवा सामाजिक विनियोग होता है। भापकी शक्तिका आविष्कार व्यक्तिगत प्रयोगसे हुआ। चायकी केटलीकी भापपरसे आविष्कार हुआ। तदुपरात समाजमे उसका विनियोग हुआ। यदि वह शोध व्यक्तितक ही सीमित रह जाती, तो बेकार साबित होती। अहिंसामे व्यक्तिगत प्रयोग भी अकारथ नही जाता। अहिंसाकी शक्ति व्यक्तिगत होनेपर भी कार्य करती है, उसे सामाजिक रूप दिया जाय तो बहुत बडा कार्य करती है।

एक शका की जाती है 'क्या सारा समाज एकनाथ, बुद्ध या खीस्त बन सकता है?' यदि बन सकता, तो तुम्हारे सामने योजनाए ही पेश न करनी पडती। हम-तुम सामान्यजन उनके प्रयोगसे लाभ उठा सकते है। उसके लिए उनके बराबर शक्तिकी जरूरत नही है। गुरुत्वाकर्षणके शोधके लिए न्यूटनमे विशेष बुद्धि होनी चाहिए। लेकिन उस शक्तिसे काम लेनेके लिए मिस्त्रीमे उतनी बुद्धिकी जरूरत नही है। हिटलर भी अपने क्षेत्रमे अद्वितीय है। वह नये-नये शस्त्रास्त्रोका शोध करता है। लेकिन उसे जिस बुद्धिकी जरूरत होती है, वह उन अस्त्रशस्त्रोको बरतनेवाले सिपाहीको नही होती।

प्रथम शोध करनेवालोको अद्भुत और अलौकिक होना ही चाहिए। लेकिन सामाजिक प्रयोगोके लिए हर एकमे अलौकिक शक्तिकी जरूरत नही है। गाधीको अलौकिक, अद्वितीय शक्तिकी आवश्यकता है। अन्यथा वे आविष्कार नही कर सकते। लेकिन उस शक्तिके सामाजिक प्रयोगके लिए अलौकिक सामर्थ्यकी आवश्यकता नही है।

गुण्य-गुणकका उदाहरण लीजिए। तकली बिलकुल छोटी-सी है। उसपर चालीस ही तार कत सकते है। लेकिन अगर उसे चालीस करोड हाथ चलाने लगे, तो चालीस करोड गुने चालीस तार होगे। अहिंसा भी ऐसी ही है। तकलीकी तरह वह सीधी-सादी, सुविधाजनक और छोटी-सी है। उसे बूढे, बच्चे, स्त्रिया सब चला सकते है। मिलके लिए हॉर्सपॉवरकी जरूरत होती है। तकलीके लिए नही। एक ईसाको जितनी शक्तिकी जरूरत होती है, उतनी सामाजिक प्रयोगके लिए नही होती। क्राइस्ट अहिंसाके प्रयोगकी मिल और हम चालीस करोड लोग अहिसाके प्रयोगकी तकलिया है। हम एक-एक तोला अहिंसक शक्ति प्राप्त करे, तो भी वह समाजके लिए हजरत ईसाकी अहिसाकी अपेक्षा अधिक उपयोगी ठहरेगी। खेतमे एक ही जगह मनो खाद डालनेसे काम नही चलता।

अगर एक-एक इच ही खाद सारे खेतमे बिखेर दिया जाय और वह जमीनमे गले, तो ज्यादा उपयोगी साबित होता है। हम भी अगर थोडी-थोडी अहिंसक शक्ति कमाए, तो हिमालयसे भी बुलद कार्य होगा, जो ईसाकी मनो अहिंसाकी अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक होगा।[१]

(सर्वोदय · फरवरी, १९४२)

: १३ :

गो-सेवाका रहस्य

आज आपके सामने मै जो थोडा-सा जिक्र करना चाहता हू, उसकी प्रस्तावनामे कुछ कहनेकी जरूरत मानता हू। कल हमलोगोकी जो सभा हुई थी, उसमे मैंने कहा था कि आप लोग मुझे अध्यक्ष बना रहे है, लेकिन मै कुछ जगली जानवर हू। इसीलिए अगर आपको कुछ असभ्यता मेरे बर्तावमे दिखाई पडे, तो उसे बरदाश्त करना होगा, वैसे भी मेरा जन्म जगलमें हुआ, और जिसे आधुनिक शिक्षण कहते है, वह मुझे मिला न मिला, इतनेमे मुझे उपनिषद् पढनेकी इच्छा हुई। आपमेंसे कुछ लोग जानते ही होगे कि उपनिषद् एक जगली साहित्य है। उसको सस्कृत भाषामे 'आरण्यक' कहते है। उसका हिंदीमे सीधा तर्जुमा 'जंगली साहित्य' ही होगा। उसमे ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए दो लक्षण बतलाये है— 'अवाकी अनादरः'। यानी वह न बोलता है और न किसी चीज की परवाह करता है। मेरे स्वभावमे भी यह बात आ गई। और ऐसी छोटी-मोटी कई बाते हो सकती है, जिनकी कि मै परवाह करता हू या नही करता, उसका भी पता मुझे नही रहेगा। कृपया उनको आप सह लेगे।

---

[१] वर्धाके 'जीवन समीक्षक मडल'में (२२ दिसबर १९४१को) दिया गया भाषण।

दूसरी बात, जो उसीका हिस्सा है, मुझे यह कहनी थी कि मेरी मातृ-भाषा मराठी है, और मराठी भाषामे यद्यपि अद्भुत सामर्थ्य भरी हुई है, तो भी एक चीजकी कमी है। वह यह कि जिसको दरबारीपन या सभ्यता कहते हैं—जो उर्दू, हिंदी, हिंदुस्तानी भाषामे है—वह मराठीमे मौजूद नही है। हम हजार कोशिश करे तो भी 'आप आइएगा, बैठिएगा'का तर्जुमा मराठीमे ठीक-ठीक कर नही सकते। इसलिए इस दृष्टिसे जो कुछ कमिया मुझमे रह गई हो, उन्हे आपको बर्दाश्त करना होगा।

इसके बाद प्रस्तावनामे एक बात और मुझे कहनी होगी। मुझे सूचित किया गया था कि मै अपना व्याख्यान लिखकर दे दू। शायद यह एक सभ्यताका ही रिवाज है। लेकिन वह मै नही कर सका। क्योकि अक्सर लोगोको देखे बिना मुझे कुछ सूझता ही नही, यह तो हमेशाकी बात हुई। लेकिन इस वक्त एक खास वजह यह भी थी कि यहापर बापूका व्याख्यान होनेवाला था। मैने सोचा कि उनका व्याख्यान मै सुनूगा और उसके प्रकाशमे बोलूगा, यानी उन बातोको दुहराऊगा जिनका उन्होने विस्तार किया होगा, और उन्होने जो बाते नही कही होगी, उन्हे मै कहूगा। यह सोचकर मैने अपना भाषण लिखकर नही भेजा और अब वह व्याख्यान जबानी ही हो रहा है। अगर इस चीजके लिए क्षमा मागनेकी जरूरत मानी जाती हो, तो वह मै माग लेता हू।

पहले तो मै नामसे ही शुरू करूगा। क्योकि नामकी महिमा सभी जानते है। हमारे सघका नाम 'गो-सेवा सघ' है। उसको सुनते ही सहज सवाल होता है, कि "क्या आपने कभी 'गो-रक्षा' शब्द सुना है? उसे जानते हुए भी 'गो-सेवा' शब्द आपने रक्खा है, या यो ही बे-सोचे-समझे या अनजानमे गो-सेवा नाम रख दिया है?"—इसका जवाब देना जरूरी है।

सस्कृतमे 'गो-सेवा' शब्द हमको शायद ही मिलेगा। वहा 'गो-रक्षा' शब्दका प्रयोग है। इसलिए हम सब लोग वह शब्द जानते है। लेकिन जानकर भी, हेतुपूर्वक, उसको छोडा है, और 'गो-सेवा' शब्द अधिक नम्र समझकर चुन लिया है। यानी हम अपनेमे गो-रक्षा की सामर्थ्य नही पाते, इसलिए गो-सेवासे सतोष मान लिया है। अर्थात् दयाभावसे, हमसे जितनी हो सकेगी, उतनी हम गायकी सेवा करेगे और भगवान्की कृपासे जब हममे ताकत आ जायेगी, तब फिर हम गो-रक्षा करेगे।

लेकिन, जब हम 'गो-सेवा सघ' कहते है, तो यह पूछा जायेगा कि "आप लोग गायकी क्या सेवा करना चाहते है ? अगर आप गायका दूध और घी बढाना चाहते है, और अच्छे बैल पैदा करना चाहते है, तो उसमे कौन-सी 'गो-सेवा' है ? उसमे तो आप लोग अपनी खुदकी ही सेवा करना चाहते है। अग्रेज लोगोने 'पब्लिक सर्विस' शब्द निकाला है, वैसी ही आपकी यह गो-सेवा हुई"—ऐसा आक्षेप हो सकता है। उसके जवाबमे कुछ कहना ठीक होगा।

हम लोग अपनी मर्यादा समझते नही। इसीलिए यह सवाल उठ सकता है। 'सेवा' और 'उपयोग'के बीच कोई आवश्यक विरोध नही है, यह समझनेकी जरूरत है। हम जिस प्राणीका उपयोग नही करते, उसकी सेवा करनेकी ताकत हममे नही होती, यह हमारी मर्यादा है। उसमे स्वार्थका कोई मुद्दा नही है। एक-दूसरेकी सेवा करनेका यही एक रास्ता हमारे लिए ईश्वरने खुला रक्खा है। नही तो, जैसा कि बापूने बताया, पिजरापोलोमे जो होता है, वही सारे समाजमे होता रहेगा। आज भी हम यही हाल देखते है। पक्षीको खिलाते है और आदमी-को भूखा रखते है। इस तरह दया या सेवा तो नही होगी, बल्कि निर्दयता या असेवा होगी।

ईश्वरके अनत गुण है, उनमेसे हमे अनेक गुणोका अनुकरण करना है। लेकिन ईश्वरका जो विशेष गुण है, उसका अगर हम अनुकरण करेगे, तो वह अहकार होगा। ईश्वरके और सब गुणोका अनुकरण शक्य है, परतु उसके विशेष गुणका, यानी उसके ऐश्वर्यका, अनुकरण शक्य नही। वह सृष्टिका पालन करता है और सहार भी करता है। इसमे हम उसका अनुकरण नही कर सकते। बहुत तो चीटियोके लिए शक्कर डाल देगे। चीटिया वहा इकट्ठी हो जायेगी, और अगर सयोगसे वहापर एकाध बैल आ जाये, तो उसके पैरके नीचे वे खतम हो जायेगी। जब ऐसी बात होगी, तो उसकी जिम्मेदारी मै कैसे उठाऊगा ? मै तो कह दूगा कि यह तो ईश्वरकी करतूत है।

यहा मुझे एक घटना याद आती है। एक थी बुढिया। उसके एक बेटा था। बेटा उसकी मानता नही था। इसलिए वह बहुत दु खी रहती थी। जब उसके पास मै पहुचा, तो वह कहने लगी, "मैने इसको पाला-पोसा, लेकिन यह मेरी सुनता ही नही।"

मैने उससे पूछा, "तेरे क्या यह अकेला ही लडका है ?"

उसने कहा, "हा, तीन-चार और थे, वे सब मर गये।"

तब मैंने अपने जगली ढगसे सीधा सवाल पूछा, "माजी, तुमने अपने तीन-चार लडकोको क्यो मार डाला ?"

आप समझ सकते है कि मेरे इस जगली सवालसे उसके दिलपर कितनी चोट लगी होगी! थोडी देरके लिए वह सहम गई और बादमे कहने लगी, "मै क्या करू ? भगवान्ने चाहा सो हुआ।" तब मै उससे पूछता हू, "अगर तुम्हारे तीन लडकोको भगवान्ने मार डाला है, तो तुम्हारा यह जो चौथा बेटा है, उसको पाला-पोसा किसने ? पाला-पोसा तो तुमने और मार डाला भगवान्ने, यह कैसे हो सकता है ? या तो दोनो जिम्मेदारिया उठाओ या दोनोको छोड दो।"

जिस प्राणीका हमे उपयोग नही है उसकी सेवा हमसे नही हो सकती। गो-सेवाका रास्ता सीधा है। गायका हमे ज्यादा-से-ज्यादा उपयोग तो है ही। वह करनेकी कोशिश करेंगे और उसके साथ-साथ उसकी सेवा, अधिक-से-अधिक जितनी हो सकती है, करेंगे, जैसे कि हम अपने बच्चोकी सेवा करते है। यही उसका सीधा अर्थ होता है।

गो-सेवाका प्रथम पाठ हमे वैदिक ऋषि-मुनियोने सिखाया और समझाया है। कुछ लोगोंका कहना है कि गो-सेवाका पाठ पढाकर ऋषियोने हममे अनुचित पूजाके भाव पैदा किये है। ऐसी पशु-पूजा वैज्ञानिक नही है। वस्तुस्थिति ऐसी नही है। जिस तरह हम उपयोगकी दृष्टिसे विचार करते है, उसी तरह सीधे उपयोगकी दृष्टिसे ऋषि-मुनियोने भी विचार किया। उसी दृष्टिसे उन्होने बतलाया है कि हिदुस्तानके लिए गो-सेवा मुफीद है। इसलिए वही धर्म हो सकता है। तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम गायका जितना हो सकता हो, उतना उपयोग करे। वेदका वचन है—

सहस्रधारा पयसा मही गौ.।

'ऐसी गाय जिससे कि हजार धाराए रोज पैदा होती हो।' आप समझ सकते है कि दूधकी एक धारा कितनी होती है। हिसाब करनेपर मालूम होगा कि वैदिक गायका दूध चालीस-पचास रतल होता था। इसपरसे आप समझ लेगे कि उनकी मशा क्या थी और गायोसे वे क्या अपेक्षा रखते थे। आजकल गायका दूध नही मिलता, ऐसी शिकायते आती है। वैदिक ऋषियोने गो-सेवाकी दिशा भी बतलाई है।

अक्सर सुना जाता है कि दूध तो गायोसे ज्यो-त्यो मिल सकता है, परतु घीके लिए तो भैसकी ही शरण लेनी पडेगी । लेकिन हमारे प्राचीन वैदिक ऋषि यह नही मानते । वे कहते है—

यूयं गावो मेदयथाः कृशं चित् ।

"हे गायो, जिसका शरीर (स्नेहके अभावसे) सूख गया हो, उसे तुम अपने मेदसे भर देती हो ।" यहा 'मेदयथा' यानी 'मेदती हो'का इस्तेमाल किया गया है । मेद कहते है चरबीको, स्नेहको, जिसे हम 'फैट' कहते है । इसका मतलब यह है कि दुबले-पतलेको मोटा-ताजा बनाने लायक चरबी गायके दूधमे पर्याप्त मात्रामे होनी चाहिए और अगर आज गायके दूधमे घीकी मात्रा कम मालूम होती है, तो उसे बढाना हमारा काम है । वह कसर गायमे नही, बल्कि हमारी कोशिशमे है ।

उसीकी पुष्टिमे उन्होने गायका वर्णन यो किया है—

अश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम् ।

जो शरीर अ-श्रीर है, उसे गाय श्रीर बनाती है । 'श्रीर'का अर्थ शोभन है और 'अश्रीर'का अर्थ 'शोभाहीन' । 'अश्रीर'से ही 'अश्लील' शब्द बना है । इसपरसे आप समझ लेगे कि हमको गो-सेवाका पहला पाठ वैदिक ऋषियोंने पढाया है, उसके विकासकी दिशा भी बतला दी है और वह दिशा अनुचित पूजा-भावकी नही, बल्कि शुद्ध वैज्ञानिकताकी है । यानी परम उपयोगिताकी है ।

सेवासे मतलब उपयोगहीन सेवा नही है । उपयोगके साथ-साथ उपयोगी जानवरकी यथासभव अधिक-से-अधिक सेवा करना ही उसका अर्थ है । उसका भाव यह है कि उपयोगी जानवरको हमे अधिकाधिक उपयोगी बनाना है और इसी तरह हम उसकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकते है, जैसा कि हम अपने बाल-बच्चोके विषयमे करते है । इस तरह हमारे लिए सेवाका उपयोगके साथ नित्य सबध है । अब मै जरा और आगे बढूगा । जैसे हम उपयोगहीन सेवा नही कर सकते, वैसे ही सेवा-हीन उपयोग भी हमे नही करना चाहिए । गो-सेवा-सघके नाममें 'सेवा' शब्दका यही अर्थ है । यानी हम बगैर सेवाके लाभ नही उठायेगे । यह आज भी होता है । हम ढोरोकी सेवा कुछ-न-कुछ तो करते ही है । लेकिन शास्त्रीय दृष्टिसे जितनी करनी चाहिए उतनी नही करते । क्योकि शास्त्रीय

दृष्टि हमारे पास नही है, विशेषज्ञोसे इस काममे हम सहायता जरूर लेगे। लेकिन हमे सब काम उनपर नही छोडना चाहिए। हमे गायकी प्रत्यक्ष सेवा करनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब उसमेंसे गो-सेवाका थोडा-बहुत शास्त्र हमारे हाथ आ जायेगा।

पवनारमे हमारे आश्रमके एक भाई, नामदेवने दो-चार गाये, पाली है। बाजारके लिए उसे एक दिन सेलू जाना पडा। शामको नामदेव वापस लौटा और गाय दुहनेके लिए बैठा, तो गायने दूध नही दिया। उसने काफी कोशिश की। तब उसने पूछा, "आज गायको क्या हो गया है ?" जवाब मिला, "कुछ तो नही। पता नही दूध क्यो नही देती ? बछडा भी तो बधा हुआ था। इसलिए वह भी दूध नही पी सका होगा।" निदान नामदेवने पूछा "किसीने उसे मारा-पीटा तो नही ?" एक भाईने कहा, "हा मारा तो था।" नामदेवने कहा, "बस तो वह इसीलिए दूध नही देती।" फिर नामदेव गायके पास पहुचा, उसने उसके शरीरपर हाथ फेरा, उसे पुचकारा। तब गाय कुछ देरके बाद दूध देनेके लिए तैयार हो गई। यह किस्सा इसलिए कहा कि हमे समझना चाहिए कि जब हम नामदेवकी तरह सेवा करेगे, तो उसीमेंसे गो-सेवाका रहस्य धीरे-धीरे स्पष्ट हो जायेगा और गो-सेवाका शास्त्र बनेगा।

कालिदासने, जो कि हिदू सस्कृतिका अप्रतिम प्रतिनिधि है, हमारे सामने उस सेवाका कितना सुदर आदर्श पेश किया है! महाराज दिलीप ऋषिके आश्रममे रहनेको आता है। ऋषि उसे गायकी सेवाका काम देते है, क्योकि आश्रममे कोई बिना सेवाके रह ही नही सकता। आश्रम तो सेवाकी ही भूमि है। हा, तो वह गो-सेवाका काम कितनी लगनसे करता है ? उसकी कैसी सेवा-टहल करता है ? उसके पीछे-पीछे कैसे रहता है ?—इसका चित्र रघुवशमे एक श्लोकमे यो खीचा है—

> स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
> निषेदुषीमासनबधधीरः ।
> जलाभिलाषी जलमाददाना,
> छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ॥

शरीरकी छायाकी नाई राजा गायका अनुचर बन गया था। जब वह गाय खडी होती थी, तब वह भी खडा हो जाता था। जब वह चलती तो वह भी

चलता, वह बैठ जाती, तब वह बैठता, वह पानी पीती, तभी वह भी पानी पीता; गायको खिलाये-पिलाये बिना खुद नही खाता-पीता था ।

गाय एक उदार प्राणी है । वह हमारी सेवा और प्रेमको पहचानती है और अधिक-से-अधिक लाभ देनेके लिए तैयार रहती है । 'सेवा' शब्दका दोहन करके मैंने यह दूध आपके सामने रख दिया है एक तो हम विना उपयोगके किसीकी सेवा नही कर सकते, और दूसरे सेवा किये विना यदि हम उपयोग करेंगे तो वह भी गुनाह होगा । हमे यह हरगिज नही करना है । ये दो बाते मैंने आपके सामने रक्खी ।

अब हम 'सघ' शव्दका मनन करेंगे।

क्या 'सघ' शव्दमे कोई विशेष दृष्टि नजर आती है ? चरखेके लिए सघ, हरिजनोके लिए सघ—इस तरह हमने कई सघ वनाये है । इसी तरह गो-सेवाके लिए भी यह सघ वना है । इसके साथ-साथ और भी एक अर्थ इसमे लक्ष्य है । हिंदुस्तानकी भूमिकी और गायोकी आज जो हालत है, उसे देखिए । सभवतः विना साझेके यह काम आगे नही बढ सकेगा । शायद जगह-जगह इसे सघका स्वरुप देकर ही यह काम करना होगा। गो-सेवा-'सघ' शव्दसे इस तरहका भाव दोहन करके अगर हम निकालेगे, तो उसमे एक गुण और मिल जायेगा। गो-सेवा कार्यमे साझेदारी या साघिक प्रयत्नकी जितनी जरूरत है, उतनी और किसी कार्यमे शायद ही हो । हिंदुस्तान की आजकी हालतमे हर एक किसान अपने-अपने घरमे गाय पाले, शास्त्रीय दृष्टिसे उसकी हिफाजत करे, यह वात मुश्किल मालूम होती है । इसीलिए गावोमे साघिक रचना करनी पडेगी । यह एक विशेष अर्थ 'गो-सेवा-सघ' शव्दसे निकल सकता है ।

अब मै और भी आगे वढता हू । गो-सेवा-सघके कार्यका आरम्भ प्रतिज्ञासे होता है । अभिप्राय यह है कि अगर हम गायके ही दूध-घीका सेवन करेंगे, तो उसकी सेवा करनेकी इच्छा पैदा होगी। इसलिए आरभमें गायके ही दूध-घी के सेवनकी प्रतिज्ञा रक्खी गई है । कई लोग पूछते है, "प्रतिज्ञाकी क्या जरूरत है ? विना प्रतिज्ञाके काम नही हो सकेगा ?" उत्तर में मै अपना अनुभव वता दू । मैंने देखा है कि जिस प्रयत्नका आरभ सकल्पसे होता है वह जैसे फलता है, वैसे केवल मशाका प्रयत्न नही फलता । कोई महान् कार्य सकल्प के बिना नही होता। अगर सकल्पसे आरभ करते है, तो आवेसे अधिक कार्य वही हो जाता है।

प्रतिज्ञा सिर्फ यही नही है कि घी-दूध खायेंगे या नही खायेंगे। गायके दूध-घीकी पैदाइश बढानेकी कोशिश करेंगे, यही प्रतिज्ञाका मतलब है।

प्रतिज्ञा लेनेमे अक्सर यह आपत्ति उठाई जाती है कि हम दूसरोके घर ऐसे नियम लेकर जायेंगे तो उनको तकलीफ होगी। इसीलिए इसका जवाब बापूने अपनी अहिंसाकी भाषामे दिया है। मै अपनी 'अनादर' की भाषामे बताना चाहता हू। इतना तकल्लुफ हमे क्यो रखना चाहिए। सूर्यको हम उसकी किरणोसे जानते है। वह जहा जाता है, अपनी किरणे साथ ले जाता है, चाहे वे किसीको ताप दे, या आह्लाद दे, वह इस बातकी परवाह नही कर सकता। सूर्य अगर अपनी किरणोको छोडता है, तो उसका सूर्यत्व ही जाता रहता है। वैसे ही हमे भी अपनी किरणोको, यानी अपने उसूलोको, अपने साथ ले जाना चाहिए। अगर मै किसीके घरमे अपने सिद्धातो और विचारोको छोडकर प्रवेश करू तो मै अपने मेरेपनको ही छोड देता हू,—मै 'मैं' ही नही रह जाता। अगर हम 'स्वत्व' छोड़कर किसीके घर जायेंगे, तो उसको आनद होगा ऐसी बात नही है। इसलिए प्रतिज्ञा जरूर लेनी चाहिए और लोगोकी कल्पित तकलीफो के विषयमे निर्भय रहना चाहिए।

अब एक बात और। गाय और भैस के विषयमे बहुत कुछ कहा गया है। दोनो मनुष्यको दूध देनेवाले जानवर है। दोनोमे कोई मौलिक विरोध तो नही होना चाहिए। फिर भी, हम गायका ही दूध बरतनेकी प्रतिज्ञा लेते है, तो उसका तत्त्व हम लोगोको जान लेना चाहिए। हिंदुस्तानका कृषि-देवता बैल है। और यह तो सब जानते ही है कि हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश है। बैल तो हमे गायके द्वारा ही मिलता है। यही गायकी विशेषता है। उसके साथ-साथ गायकी अन्य उपयोगिता हम जितनी बढा सकते है, जरूर बढायेगे। लेकिन उसका मुख्य उपयोग तो बैलकी जननीके नाते ही है। बिना बैलके हमारी खेती नही होती। इसलिए हमे गायकी तरफ विशेष ध्यान देना चाहिए और उसकी सार-सभाल करनी चाहिए। ऐसा अगर हम नही करते, तो हिंदुस्तानकी खेतीका भारी नुकसान करते है। जब हम इस दृष्टिसे सोचते है,तो भैसका मामला सुलझ जाता है। और यह सहज ही समझमे आ जाता है कि गायको ही प्रोत्साहन देना हमारा प्रथम कर्त्तव्य क्योकर हो जाता है।

मुझे याद आता है एक दफा मेरे एक मित्रने उनके प्रातमे अकालके समय जानवर किस क्रमसे मरे, उसका हाल सुनाया था। उन्होने कहा, सबसे पहले

भैंसा मरता है। क्योकि हम भैंसेकी उपेक्षा करके उसे मार डालते या मरने देते है। वर्धाके बाजारमे भैंसे ऐसी अवस्थामे लाई जाती है जब कि वे एक-दो घटोमें ही ब्यानेको होती है। हेतु यह होता है कि लोग उसे तुरत खरीद ले। एक बार एक आदमी ऐसी एक भैंस बाजारको ला रहा था। उसी समय मनोहरजीने, जो कि उन दिनो येळीकेळीमे महारोगीसेवा मडल द्वारा महारोगियोकी सेवा करते थे, उसको देखा। रास्तेमें ही वह भैंस ब्यायी—पुत्र जन्म हो गया! लेकिन उस आदमीको उस पुत्रजन्मसे बडी झुझलाहट हुई! उसने सोचा, यह पुत्र कैसा? यह तो एक बला आ गई! मनुष्यको तो पुत्र-जन्मसे आनन्द होता है; लेकिन भैंसके पुत्रको वह सहन नही करता। उसने उस पुत्रको वही छोड दिया और भैंस-को लेजाकर वर्धाके बाजारमे बेच दिया और जो कुछ पैसा मिला वह लेकर अपने घर चलता बना, बेचारा भैंस-पुत्र वही पडा रहा। मनोहरजी बेचारे दयालु ठहरे। फिक्रमे पडे कि अब इसका क्या किया जावे? जिस खेतमे वह रहते थे उस खेतके मालिकके पास गये और उससे कहा, "भैया, इसको सम्हालोगे?" मालिकने कहा, "यह क्या बला आ गई? मै उसको कैसे रखू? आखिर उसका उपयोग ही क्या है? मै उसकी परवरिश क्यो करू? उसको आखिर दशहरेके दिन कत्ल होनेके लिए ही बेचना होगा। इसके सिवा और दूसरा कोई रास्ता नही है।"

मैंने यह एक नित्यकी घटना आपके सामने रखी। तो, सबसे पहले बेचारा भैंसा मरता है। फिर उसके बाद गाय मरती है। उसके पश्चात् भैंस मरती है और सबसे आखिरमे बैल। बैल सबसे उपयोगी है और इसीलिए उसकी हिफाज़त करनेकी विशेष कोशिश की जाती है। लोग किसी-न-किसी तरह उसको खिलाते रहते है और उसे जिलानेकी कोशिश करते है। यह तो हुई उपयोगिताकी बात। बैल इन सब जानवरोमे सबसे ज्यादा उपयोगी तो साबित हुआ। लेकिन सवाल यह है कि गायकी सेवाके बिना अच्छे बैल कहासे आयेंगे? हिंदुस्तानका आदमी बैल तो चाहता है, लेकिन गायकी सेवा करना नही चाहता। वह उसे धार्मिक दृष्टिसे पूजनेका स्वाग रचता है। दूधके लिए तो भैंसकी ही कद्र करता है। हिंदुस्तानके लोगोकी यह मशा है कि उनकी माता तो रहे भैंस और बाप हो बैल! यह योजना तो ठीक है, लेकिन वह भगवान्‌को मजूर नही है! इसलिए यह मामला बहुत टेढा हो गया है। भैंस और गाय दोनोका पालन हिंदुस्तान के लिए आज बडी मुश्किल बात हो गई है।

लेकिन हमे यह समझ लेना चाहिए कि गो-सेवामे गायकी ही सेवाको महत्त्व देना पडता है। बापूने कहा कि अगर हम गायको बचा लेगे, तो भैंसका भी मामला तय हो जायेगा। इसका पूर्ण दर्शन तो अभी मुझे भी नही हुआ है और शायद उसकी कभी जरूरत भी नही है।

गाय और भैंसको एक-दूसरेकी विरोधी माननेकी जरूरत नही है। लेकिन हमे तो गो-सेवासे आरभ कर देना है और वही हो भी सकता है। हमे समझना चाहिए कि आज हम दरअसल भैंसकी सेवा भी नही करते। आज हम जो भैंसकी सेवा करते है, वह दरअसल न तो गो-सेवा है और न भैंसकी सेवा ही है। हम उसमे केवल अपना स्वार्थ देखते है। हम भैंसका केवल सेवाहीन उपयोग करते है। जिस प्रकार उपयोग-हीन सेवा हम नही कर सकते, उसी प्रकार सेवा-हीन उपयोग भी हमे नही करना है।

जैसा कि मै बता चुका हू, आज भैंसेकी हर तरहसे उपेक्षाकी जाती है। वस्तुस्थिति यह है कि हिंदुस्तानके कुछ भागोमे भैंसेका उपयोग भले ही किया जाता हो, लेकिन साधारणत हिंदुस्तानकी गरम हवा मे भैंसा ज्यादा उपयोगी नही हो सकता, भैंसका हम केवल लोभसे पालन कर रहे है। नागपुर-वरारमे गर्मियोमे गर्मीका मान एकसौ पद्रह अश तक चला जाता है। खासकर उन दिनोमे भैंसको पानी जरूर चाहिए। मगर यहा तो पानीकी कमी है। पानीके बगैर उसको वेहद तकलीफ होती है। क्योकि भैंस पूरी तरह जमीनका जानवर नही है। वह आधा जमीन का और आधा पानीका प्राणी है। गाय तो पूरी तरह थलचर है। और अकसर देखा जाता है कि जो पानीवाला जानवर हो, उसके शरीरमे भगवान्‌ने चरबीकी अधिकता रखी है। क्योकि ठड और पानीसे बचनेके लिए उसकी उसे जरूरत होती है। मछलीके शरीरमे स्नेह भरा हुआ रहता है। पानीके वाहर निकालते ही वह सूर्यके तापसे जल जाती है। वैसी ही कुछ-कुछ हालत भैंसकी भी है। उसे धूप वरदाश्त नही होती। इसीलिए लोग गर्मीके दिनोमे उसीके मलमूत्र का उसकी पीठपर लेप करते है, ताकि कुछ ठडक रहे। वे जानते है कि उस जानवर को उस समय कितनी तकलीफ होती है। देहातोमे जाकर आप लोगोसे पूछेगे कि आपके गावमे कितनी भैंसे और कितने पाडे है, तो वे कहेगे कि भैंसे है करीब सौ-डेढसौ और पाडे है कुल दस, या वहुत तो बीस। अगर हम उनसे पूछेगे कि इन स्त्री-पुरुषो या नर-मादाओकी सख्यामे इतनी विषमता क्यो

है ? तो हमारे देहातोके लोग जवाव देगे, 'क्या करे ? भगवान्की करतूत ही ऐसी है कि भैसा ज्यादा दिन जीता ही नही'। आखिर यहा भी भगवान्की करतूत आ ही गई! यह हमारे वुद्धिनाशका लक्षण है। हम उसकी तकलीफका ध्यान न करते हुए भैसका उपयोग करते है कि भैसे जिदा ही नही रहते और नही रहेगे। मतलब, हम भैसकी सेवा करते है, ऐसी बात नही है। उसमे हम सिर्फ भैसका उपयोग ही करते है। बाकी उसकी सेवा कुछ भी नही करते। इसलिए आपकी समझमे आगया होगा कि सेवा-सघ की स्थापना हम किसलिए करते है।

चद लोग पूछते है, "हिंदुस्तान एक कृषि-प्रधान देश है, इसलिए खेतीके वास्ते बैल चाहिए और बैल चाहिए तो गाय भी चाहिए, इत्यादि विचारश्रेणी तो ठीक है, मगर क्या हिंदुस्तानका यही एक अर्थशास्त्र हो सकता है ? क्या दूसरा कोई अर्थशास्त्र ही नही हो सकता ? समय आनेपर हम खेतीका काम ट्रैक्टरसे क्यो न करे ?"

उसके जवावमे मै यह पूछता हू कि ट्रैक्टर चलायेगे तो बैलका क्या होगा ? जवाव मिलता है, "बैलको हिंदुस्तानके लोग खा जाये। हिंदुस्तानके लोग दूसरे कई जानवरोका मास बराबर खाते है, उसी तरह बैलका मास भी खा सकते है। यह रास्ता क्यो न लिया जाये ?" इस तरह जव बैलोको खा जानेकी व्यवस्था होगी, तभी ट्रैक्टर द्वारा जमीन जोतनेकी योजना हो सकती है। कहा जाता है कि बैलोको अगर हिंदू नही खायेगे, तो गैर-हिंदू खाये। आज भी हिंदू गायको बेचते ही है। खुद तो कसाईसे पैसा ले लेते है और गो-हत्याका पाप उसे दे देते है। ऐसी सुदर आर्थिक व्यवस्था उन्होंने अपने लिए बना ली है। वह कहता है कि अगर मै कसाईको गाय मुफ्तमे देता, तो गोहत्याके पापका भागी होता। लेकिन मै तो उसे वेच देता हू। इसलिए पापका हिस्सेदार नही बनता, उस व्यवस्थाको आगे बढायेगे, तो सब ठीक हो जायेगा। हम भैससे दूध लेगे, बैलोको खा जायेगे और यत्रोंके द्वारा खेती करेगे—इस तरह तीनोका सवाल हल हो जायेगा।

इसके जवावमे मै आप लोगोको यह समझाना चाहता हू कि बैलोको क्यो नही खाना चाहिए ? पूर्वपक्षकी दलील यह है कि कुछ प्रेज्युडिस्ड लोग यानी पूर्वग्रह दूषित लोग बैलको भले ही न खाये, लेकिन बाकीके तो खायेगे और हम यत्रके द्वारा मजेमे खेती करेगे। इस विषयमे हमारे विचार साफ होने चाहिए। मै मानता हू कि हिंदुस्तानकी आजकी जो हालत है और आगे उसकी जो रहना

होनेवाली है, उस हालतमे अगर हम मासका प्रचार करेंगे और यत्रसे खेती करेंगे, तो हिंदुस्तान और हम जिदा नही रह सकेंगे। यह समझनेकी जरूरत है। हिंदुस्तानके लोग भी अगर गाय-बैल खाने लगेंगे, तो कितने प्राणियोकी जरूरत होगी ? उतने बैलोकी पैदाइश हम यहा नही कर सकेंगे। सिर्फ मास, या गोश्त खानेका ढोग तो नही करना है। मांस अगर खाना है तो वह हमारे भोजनका नियमित हिस्सा होना चाहिए। तभी तो उससे अपेक्षित लाभ होगा। लेकिन हम जानते हैं कि लोग खा सके इतने बैल पैदा नही हो सकेंगे। अगर हम इस तरह करने लगे और खेती ट्रैक्टरके द्वारा होने लगी, तो ट्रैक्टरका खर्च बढेगा और गोश्त भी पूरा नही पडेगा और आखिरमे गाय और बैलका वश ही नष्ट हो जायेगा और उसके साथ मनुष्य भी।

यूरोप और अमेरिकाकी क्या स्थिति है ? दक्षिण अमेरिकाके आर्जेंटाइनके बदरगाह ब्युनॉस-आयरिसमे रोज करीब-करीब दस हजार बैल कटते हैं, और वहासे गोश्तके पीपे दूर-दूरके देशोको भेजे जाते है। अब तो यह व्यवस्था यूरोपके कामकी नही रही। लेकिन वैसे भी अगर यह सिलसिला जारी रहा, तो आगे चलकर लोगोको गोश्त मिलना कठिन हो जायेगा, इसलिए यूरोपके डॉक्टरोने अब यह शोध की है और बहुत सोच-विचारकर निर्णय किया है—सभव है उसमे मतभेद होगा, क्योकि डॉक्टरोमे मतभेद तो हुआ ही करता है—कि गोश्तके मुकाबिलेमे दूधमे गुण अधिक है। यह शोध हमारे आयुर्वेदिक वैद्यो और हकीमोने, बहुत पहले किया है। मै मानता हू कि आज यूरोपके लोग जिस तरह मासाहार करते हैं, उसी तरह हिदुस्तानके लोग भी पुराने जमानेमे मासाहार करते थे। आखिर वे इस नतीजेपर पहुचे कि अगर हम मासके बजाय दूधका व्यवहार करेंगे, तो हम भी जिदा रहेंगे और जानवर भी जिंदा रहेंगे। इसलिए ट्रैक्टरका उपयोग हमारा सवाल हल नही कर सकता और हमे यह समझना चाहिए कि गोश्तके बजाय दूधपर भरोसा रखना सब तरहसे लाजिमी होगा।

मेरी यह भविष्यवाणी है कि जैसे-जैसे जनसख्या बढती जायेगी, वैसे-वैसे दुनिया भरमे गोश्तकी महिमा कम होगी और दूधकी बढेगी। पूछा जाता है कि 'आखिर दूध भी तो प्राणिजन्य वस्तु ही है ?' हा है तो सही, 'फिर दूधको पवित्र क्यो माना गया ?' उसका जवाब अभी मैंने जो कुछ कहा, उसीमे मिल सकता है। जैसा कि अभी मैंने कहा, एक समय था जब कि हिदुस्तानमे मासाहार ही

चलता था। उस वक्त उसमेसे बचनेके लिए क्या किया जाये, यह सवाल उत्पन्न हुआ। योगियो और वैद्योने जब लोगोके सामने गायके दूधकी महिमा रक्खी, तबसे दूध ऐसी चीज हो गई जिसने लोगोको मासाहारसे छुडाया। इसलिए दूध पवित्र माना गया। इसके सबूत आपको वेदोमे मिल सकते है। 'ऋग्वेदमे

गोभिष्टरेम अमतिं दुरेवां,
यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।

यह वचन पाया जाता है। इस मत्रका अर्थ मैने इस तरह किया है—'भूखको तो हम अन्नके द्वारा मिटा सकते है। लेकिन 'दुरेवा अमति'का यानी दुर्भाग्यमे ले जानेवाली अबुद्धिका, अर्थात् गोश्तकी तरफ ले जानेवाली अबुद्धिका, गायके दूधके द्वारा ही हम निवारण कर सकते है।' सब तरहकी अबुद्धि मिटानेके लिए और उसमेंसे जहर निकलनेके लिए गायका दूध हमारे काम आता है। इसीलिए गायका दूध पवित्र माना गया है। मतलब यह कि कुल मिलाकर यत्रवादी जो ट्रैक्टरपर आधार रखनेकी बात कहते है, वह गलत है।[1]

(सर्वोदय मार्च, १९४२)

: १४ :

जीवित मृत्यु

कल शामको चार बजे महिलाश्रममे मेरा व्याख्यान था। उस व्याख्यानके लिए मै वहा पहुचा। बहने आ बैठी। मै अपना व्याख्यान शुरू करनेवाला था कि इतनेमे मोटर आई। सदेश मिला कि जमनालालजी बीमार है। मुझे बुलाया है। जमनालालजी ऐसे खास बीमार तो थे ही नही, सदाकी भांति वे दोपहरतक अपना काम करते रहे थे इसलिए उनकी बीमारीकी गभीरता मै न समझ सका। किंतु व्याख्यान छोडकर मै गाधी-चौक पहुचा। गाडीमे उतरते

---

[1] गोसेवा-सघके सम्मेलनके अवसरपर (१ फरवरी, १९४२को) अध्यक्ष-पदसे दिया गया भाषण।

ही दिलीप ऊपरसे नीचे आये। उनके चेहरेपर दु.खकी छाया थी, परतु फिर भी मैं पूरी कल्पना नही कर सका। स्वास्थ्यके बारेमे पूछनेपर उन्होने कहा—"वह तो गये।"

ऐसी अनपेक्षित दु खदाई, चित्तको हिला देनेवाली खबर सुनकर मुझे क्या महसूस हुआ होगा यह आप समझ सकते हैं। खबर तो क्लेशदायी थी, परतु मुझे अपने भीतर एक आनदका आभास हुआ। मनकी उसी अवस्थामे मै उनके कमरेमें गया। वहा जो लोग बैठे थे उन सबके चेहरेपर जब मैंने दु खकी छाया देखी तो मैंने महसूस किया कि घटना ऐसी ही हुई है जिससे कइयोको दु ख हो सकता है। फिर भी मुझे मानना चाहिए कि मेरी आनदकी भावनामे कमी नही हुई व अग्नि-दाहपर गीता व उपनिषदोका पाठ करते समय आनदकी उस भावनाकी सीमा नही रही।

मेरी यह अवस्था रातभर ऐसी ही रही। प्रात उठनेपर जमनालालजीके चले जानेसे हम लोगोकी जो क्षति हुई व हमपर जो जिम्मेदारी आ पडी उसकी भी पूरी कल्पना हुई। आगेका सब हाल आप समझ सकते है।

परतु मेरी खुशीका कारण मुझे आपको जताना होगा। जेलमे मुझे मालूम हुआ था कि जमनालालजीने गो-सेवाके कामकी जिम्मेदारी ली है। मुझे सतोष हुआ था। यह कार्य जमनालालजीने उठाया, तो देशको इससे लाभ तो होगा ही, उनके चित्तको भी शाति मिलेगी, लेकिन उनके थके हुए शरीरके लिए यह काम बहुत ज्यादा होगा, ऐसा मेरा खयाल था। जेलसे छूटनेपर उन्होने इस नये कामके बारेमे मेरी राय पूछी। मैंने अपना सतोप व्यक्त किया। उनकी आखोमे आसू चमके। तबसे आजतक इन दो महीनोमे मैंने देखा कि वह खुश थे, उनके चित्तमे प्रसन्नता थी, इसलिए कि उन्हे एक पवित्र तथा आत्मोन्नतिमे सहायता देनेका कार्य मिला और जब वे चल बसे, तब उनकी मानसिक अवस्था जितनी अच्छी थी, उतनी उनके पिछले बीस वर्षोमे कभी नही थी। पिछले बीस वर्षोसे उन्हे सूक्ष्म आत्म-निरीक्षणकी आदत थी। परतु मनकी जो उन्नत अवस्था वे अबतक प्राप्त न कर सके थे वह इन दो-तीन महीनोमे उन्होने बडी तेजीसे हासिल कर ली थी। अब की बार ही मै देख सका कि जमनालालजीके दिलमे देह-भावका अवशेष भी नही रहा था, केवल सेवा ही सेवा रही। इससे अच्छी मृत्यु और क्या हो सकती है? अतिम समयपर सेवा करते रहनेपर मृत्युका प्राप्त होना कितने भाग्यकी बात

है। इसलिए इस दु खदायी घटनामे भी जो सुखदायी बात छिपी हुई है, वह आपके सामने रखनेकी मेरी इच्छा हुई। हमे भी ऐसी मृत्युकी परमेश्वरसे याचना करनी चाहिए।

तुलसीदासने रामायणमे राम-बाली-सवाद दिया है। भगवान् रामका बाण लगनेपर बालीने रामको उलहना दिया। तब वे कहते है "ओ मेरे प्यारे बालक, मैंने तो तुझपर बाण नही, प्रेम बरसाया है। अगर तुम चाहो तो मै तुम्हे जिंदा रख सकता हू। बालीने उस समय जो जवाब दिया वह मननीय है। उसने कहा "आज तो आपके दर्शन भी मिले और मृत्यु भी। आगे जब मृत्यु मिलेगी तब आपका दर्शन मिलेगा यह कौन बता सकता है? इसलिए मै अभी मरना ही पसद करता हू। जब आपके दर्शन हो रहे है तभी मृत्युका आलिगन करना मै अपना भाग्य समझता हू।" इतना कहकर बाली मुक्त हो गये। उनकी आत्मा राममय हो गई। चित्तका शोधन करते-करते उच्च अवस्था प्राप्त करनी चाहिए और उसी हालतमे देह छोडनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि जमनालालजीको भी ऐसी ही मृत्यु प्राप्त हुई है। इसलिए यह दु खकी बात नही, खुशी और ईर्ष्याकी बात है।

हम उनके अनेक गुणोका वर्णन कर सकते है। उनका सबसे बडा गुण यह था कि सेवा करते समय वे अपनी सेवाका हिसाब तो रखते ही थे, परतु इस सेवाका मापन मुख्यत अपने हृदयकी परीक्षा लेकर ही करते थे। उनका विश्वास था कि जिस सेवाका परिणाम चित्त-शुद्धिके रूपमे होता हो वही सेवा सच्ची है। जितनी मात्रामे यह परिणाम कम दिखाई देगा उतनी ही वह सेवा अधूरी व जिस सेवासे चित्त-शुद्धि बिलकुल ही नही होती हो वह झूठी। वे हर प्रकारकी सेवाको चित्त-शुद्धिकी कसौटीपर कसा करते थे और चित्त-शुद्धिकी कसौटीको ही वह सेवाकी कसौटी मानते थे। मनकी ऐसी पवित्र अवस्थामे जो जीव शरीर छोडकर चला जाता है वह जाता ही नही बल्कि छोटासा शरीर त्यागकर समाज रूपी व्यापक देहमे प्रवेश करता है। शरीर आत्माके विकासके लिए है; परतु जिनकी आत्मा महान् है उनके विकासके लिए मानव-देह छोटा-सा पडता है। ऐसे समय वह महान् आत्माए कभी-कभी अपने दुर्बल शरीरको छोड जाती है व देहरहित अवस्थामें अधिक सेवा करती है। जमनालालजीकी यही स्थिति है। आपके व हमारे शरीरमे उन्होने प्रवेश किया है, ऐसा मै तो मानता हू। इसका असर हम सबपर

होगा ही, परतु हमे अपने हृदयके द्वार खुले रखना चाहिए। एक छोटी-सी मिसाल उनकी पत्नीकी मै दू। वह एक सीधी-सादी देवी है, विशेष पढी-लिखी भी तो नहीं है, परतु जमनालालजीकी मृत्युने उन्हे अपना जीवन सेवा-कार्यमे समर्पण करनेकी प्रेरणा दी। अपनी सारी निजी सपत्ति भी देश-कार्यके ही लिए समर्पण करनेका सकल्प उन्होने किया। जमनालालजीकी मृत्युका यह परिणाम हुआ। सदेह आत्मा जितना असर नही कर पाती उतना या उससे कितना ही अधिक विदेह (यानी देह बिना) आत्माने किया। यह एक ऐसी ही मिसाल है। भविष्यमे ऐसे और भी उदाहरण हो सकते है क्योकि महान् विभूतिया देह छोडनेपर ही अधिक बलवान बनती है। सतोके उदाहरण हमारे समुख है ही। उनके जीवन-कालमे समाजने उनका आदर करनेके बजाय छल ही किया। देह जानेके बाद देह बिना रहकर ही वे लोगोके चित्तपर अधिक प्रभावशाली परिणाम अकित कर सके। ऐसे सतोमे छोटा-सा ही क्यो न हो जमनालालजीका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए उन्होने जिस प्रकार अपनी सारी ताकत लगाकर जो सेवा-कार्य किया, उससे भी अधिक शक्तिसे वह कार्य आगे बढाते रहनेकी प्रेरणा ईश-कृपा से हमे मिल सकती है। यह प्रेरणा ग्रहण करनेके लिए हमारे हृदय-द्वार खुले रहे, इतनी ही प्रार्थना परमात्मासे कर मैं अपनी श्रद्धाजलि समाप्त करता हू।[1]

(सर्वोदय मार्च, १९४२)

: १५ :

खादीका समग्र-दर्शन

जेलमे तटस्थ चिंतनके लिए थोडा-बहुत अवकाश मिल जाता है। इसलिए हमारे आदोलनके विषयमे और हिंदुस्तान तथा ससारकी सारी परिस्थितिके विषयमे बहुत-कुछ विचार हुआ, चर्चा भी हुई। कुल मिलाकर परिस्थिति बहुत बिगडी हुई मालूम होती है। ऐसे समय कौन-से उपाय करने चाहिए, इसका चिंतन

[1] श्री० जमनालाल बजाजके निधन पर हुई शोक सभा में (१२ फरवरी, १९४२को) दिया गया भाषण।

हम वहा करते थे। लेकिन हमारे जेलसे छूटनेके थोडे ही दिन बाद जापान और अमेरिकाके लडाईमे शामिल हो जानेसे परिस्थिति और भी बिगड गई। इसलिए जेलमे किये हुए कुछ विचार अधूरे मालूम हुए और कुछ दृढ हुए। इस युद्धके विरोधमे हम प्राय तीन कारण दिया करते थे पहला कारण था युद्धकी हिंसकता, दूसरा दोनो पक्षोकी—चाहे वह न्यूनाधिक भले ही हो—साम्राज्यवादी तृष्णा, और तीसरा यह कि हिंदुस्तानकी सम्मति नही ली गई। लेकिन जापान और अमेरिकाके मैदानमे कूद पडनेके बाद तो अब करीब-करीब सारा ससार ही युद्धमे शामिल हो गया है। अब यह युद्ध मनुष्यके हाथमे नही रहा, वरन् मनुष्य ही युद्धके आधीन हो गया है। इसलिए यह युद्ध स्वैर या मूढ है। हमारे युद्धविरोधका यह और एक नया कारण है। वासुदेव कॉलेज (वर्धा)मे भाषण देते हुए मैने इसीपर जोर दिया था।

लेकिन इस प्रकार ससारके सभी बडे राष्ट्रोके युद्धमे शरीक हो जानेसे, हिंदुस्तानकी, जो कि पहलेसे ही एक दरिद्र और विषम परिस्थितिमे ग्रस्त देश है, हालत और भी विषम हो गई है। अग्रेजी राजसे पहले हिंदुस्तान स्वावलबी था। इतना ही नही, वह अपनी जरूरते पूरी करके विदेशोको भी थोडा-बहुत माल भेजा करता था। लेकिन आज तो पक्के मालके लिए हिंदुस्तान करीब-करीब पूरी तरह परावलबी हो गया है। राष्ट्रीय रक्षाके साधन, युद्धविषयक सरजाम, वगैरामे जो परावलम्बन है, उसकी बात मै नही कहता। हालाकि अगर अहिंसाका रास्ता खुला न हो, तो राष्ट्रीय दृष्टिसे इस बातका विचार भी करना ही पडता है। लेकिन मै तो सिर्फ जीवनोपयोगी नित्य आवश्यकताओकी ही बात कह रहा हू। ये चीजे आज हिंदुस्तानमे नही बनती और फिलहाल वे बाहरसे कम आ सकेगी। लडनेवाले राष्ट्र युद्धोपयोगी सामग्री बनानेकी ही फिक्रमे हो, उनके पास बाहर भेजनेके लिए बहुत कम माल रहेगा। और इसके बादभी जो माल तैयार होगा, उसे दूसरे राष्ट्रोतक न पहुचने देनेकी व्यवस्था शत्रुराष्ट्र अवश्य करेगे। अमेरिकासे माल आने लगे, तो जापान उसे डुबो देगा और जापानसे तो माल आ ही नही सकेगा। इस तरह अगर बाहरसे माल आना कम हो गया या बद हो गया, तो हिंदुस्तानका हाल बहुत ही बुरा होगा। पक्का माल यहा बनानेके विषयमे सरकार, अगर हेतुपूर्वक नही तो परिस्थितिके कारण, उदासीन रहेगी। उसका सारा ध्यान लडाईपर केंद्रित है, इसलिए उसे दूसरी गभीर योजनाए

नही सूझेगी। गभीरतासे जो कुछ विचार होगा, वह केवल युद्धके विषयमे ही होगा। अगर सरकारकी यही वृत्ति रही कि हिंदुस्तानका जैसे-तैसे रक्षण—यानी उसे अग्रेजोके कब्जेमे बनाये रखना—भर हमारा कर्तव्य है, तो कोई ताज्जुब नही।

ऐसी अवस्थामे हम कार्यकर्ताओपर बहुत बडी जिम्मेदारी आ पडती है। उस दिन दादा धर्माधिकारी मेरे पास आये थे। उनसे मैंने अपनी इस दशाका जिक्र किया था। उसके विषयमे उन्होने 'सर्वोदय'मे एक टिप्पणी लिखी है। यो लोगोपर यह इलजाम लगाया जाता था कि खादीकी बिक्री काफी नही होती, उसके लिए लोगोकी मिन्नते करनी पडती है। अब हमपर यह इलजाम आनेवाला है कि इस लडाईकी परिस्थितिमे लोगोकी माग हम पूरी नही कर सकते। ऐसे सकटके समय अगर हम खादीके कामको तरक्की न दे सके, तो खादीके भविष्यके लिए बहुत कम आशाकी गुजाइश रहेगी।

जाजूजीने 'खादी जगत्' द्वारा हाल हीमे एक योजना पेश की है। उसमे उन्होने यह प्रमाणित किया है कि सरकार बेकारोको जितने उद्योग दे सकती है, उतने अवश्य दे, लेकिन सरकारकी शक्ति खतम होनेपर भी अगर भूख बाकी रह जाय, तो उतने अशमे खादीको प्रोत्साहन देना सरकारका कर्तव्य है। किसी भी सरकारको खादीका यह कार्यक्षेत्र प्राय मजूर करना पडेगा।

लेकिन इस योजनाका स्वरूप तो ऐसा है कि मानो जहा हम प्रवेश नही पा सकते, वहा धीरे-से अपनी पोटली रख देते है। हमारे घरपर कब्जा करनेवालेसे हम कहते है, "भैया, मकान तेरा ही सही। लेकिन तेरा यह खयाल गलत है कि मकान बिलकुल भर गया है। वह देखो, उस कोनेमे थोडी-सी जगह खाली है। मेरी यह पोटली वहा पडी रहने दो।" हमारा यह आक्रमण मनुष्यसे अपेक्षित न्यूनतम सद्गुणोपर होता है, इसलिए उसका परिणाम अवश्य होता ही है।

परतु इस प्रकारकी अकाल-पीडित खादी खादीकी बुनियाद नही हो सकती। आज जिस तरह खादीका उत्पादन और बिक्री हो रही है, वह भी उसकी बुनियाद नही है। खादीकी इमारतका वह एक भाग जरूर है। खादीकी अन्तिम योजनामे भी उत्पत्ति-विक्रीका स्थान रहेगा, और आजसे कही अधिक रहेगा। लेकिन वह खादीकी सपूर्ण योजनाका एक अग मात्र है।

उसी तरह आज जगह-जगह जो वस्त्र-स्वावलबन जारी है उससे, यानी इस गावमे चार वस्त्र-स्वावलबी आदमी है, उस तहसीलमे सौ-दो-सौ है, इसी प्रकार

दूसरे गावोमे भी वस्त्र-स्वावलवन शुरू करते रहनेसे, भी हमारा मुख्य काम नही होता। यह तो चौराहोपर जगह-जगह म्युनिसिपैलिटीकी बत्तिया लगानेके समान है। इन बत्तियोका भी उपयोग तो है ही। उनके कारण चारो तरफका वातावरण प्रकाशित रहेगा। लेकिन चौककी बत्तिया घरके चिरागोका काम नही देती। इसलिए यह इस तरह बिखरा हुआ वस्त्र-स्वावलवन भी खादीका मुख्य कार्य नही है।

खादीकी नीव तो यह है कि किसान जैसे अपने खेतमे अनाज उपजाता है, उसी तरह वह अपना कपडा अपने घरमे बनावे। शायद शुरूसे ही हम इस तरह काम न कर सकते। इसलिए हमने खादीका काम दूसरे ढगसे शुरू किया। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ। इससे खादीको गति मिली और लोगोको थोडी-बहुत खादी हम दे सके।

लेकिन अब तो लोगोकी खादीकी माग बढेगी। आजके तरीकेसे हम उसे पूरा नही कर सकेगे। ऐसी स्थितिमे अगर हम लाचार होकर चुपचाप बैठे रहेगे, तो हम दोषी समझे जायेगे। और यह दोषारोपण न्यायानुकूल ही होगा। क्योकि खादीको बीस सालका समय मिल चुका है। हिटलरने बीस वर्षोमे एक गिरे हुए राष्ट्रको खडा कर दिया। उन्नीस सौ अठारहमे जर्मनीकी पूरी तरह हार हो गई थी और उन्नीस सौ अडतीसमे वह एक आला दर्जेका राष्ट्र बन गया। रूसने भी जो कुछ ताकत कमाई, वह इन बीस बरसोमे ही कमाई। इतने समयमे उसने दुनियाको मुग्ध कर देनेवाली विचार और आचारकी एक प्रणालीका निर्माण किया। ये दोनो प्रयोग हिसामय या हिसाश्रित है, इसलिए उनकी स्थिरता खतरेमे है, यह बात अलग है। कहा तो यही जायगा कि खादीको भी इसी प्रकार बीस वर्षतक मौका दिया गया। इतने समयमे खादी अधिक प्रगति नही कर सकी, इसकी कई वजहे है। इसलिए जर्मनी या रूससे तुलना करके हमे अपने तई अपना धिक्कार करनेकी जरूरत नही है। फिर भी ऐसे सकटके मौकेपर अगर हम लाचार बन गये, तो, जैसा कि मै कह चुका हू, खादीके लिए एक कोना दिखाकर उतनेसे सतुष्ट रहना पडेगा। लेकिन यह खादीकी मुख्य दृष्टि—जिसे अहिंसाकी योजनामें करीब-करीब केन्द्रस्थान है—छोड देनेके समान है। कम-से-कम हिंदुस्तानमें तो खादी और अहिसाका गठ-बधन अटूट समझना चाहिए।

जब लोगोकी माग बढेगी तो हम उनसे कहेगे, 'सूत कातो।' तब लोग कहेगे, 'हमे पूनिया दो।' हमारे आदोलनमे पूनियोकी समस्या बडी टेढी है। पूनियोके

बादकी क्रिया अपेक्षाकृत सरल है। लेकिन पूनियोका सवाल हम शास्त्रीय या लौकिक पद्धतिसे अबतक हल नही कर सके है। तब, लोगोसे कहना होगा, 'तुम अपने लिए धुनो।' इसमे तातका सवाल आयेगा। पक्की तातकी व्यापक माग एकदम पूरी नही की जा सकती। इसलिए काम रुक जायगा। इसका ज्यो-ज्यो मै विचार करता हू, त्यो-त्यो मेरी निगाह उस 'दशयत्र पीजन'पर ठहरती है। पाच और पाच दस अगुलियोसे जो काम होता है, उसे 'दशयत्र' कहते है। सोमरस दस अगुलियोसे निचोडा जाता है। इसलिए वेदोमे 'दशयत्रा सोमा'का उल्लेख है। उसी तरह यह तुनाईका दशयत्रपीजन है। वह बहुत लाभदायी और सारी दिक्कतोसे बचानेवाला साबित होगा। रबर लगानेके नये तरीकेकी खोजने इस दशयत्र-पीजनमे क्राति कर दी है। उसके कारण यह काम आसान हो गया है। यह बात सच है कि रबर सर्वसुलभ नही है। लेकिन उसका भी विचार हो सकता है। और वह भी इस कामके लिए अनिवार्य तो नही है। उस दिन मै खरागना गया था। वहा मैने इस दशयत्र-पीजनका प्रदर्शन किया। दर्शकोमेंसे एकने कहा, 'जरा मै भी देखू।' और देखते-देखते उसने पन्द्रह-बीस मिनिटोमे, अगर अच्छी नही तो, साधारण पूनी बना ली। इसे सीखना इतना आसान है। उसकी गति भी व्यवहार-सुलभ है। इस सम्बन्धके कुछ आकडे वल्लभभाई (भगवानजी)ने अपने एक लेखमे दिये है। नागपुर जेलमे मैने जो प्रयोग किये उनके आधारपर मैने भी जेलसे ही एक लेख भेजा था। रामदासजी गुलाटीको जब तुनाई करके दिखाई गई, तब वह कहने लगे कि मिल की पूनीके लगभग सभी गुण इस पूनीमे है और वैज्ञानिक दृष्टिसे यह पूनी करीब-करीब निर्दोष है। इस दशयत्र-पीजनका सर्वत्र प्रचार करनेके लिए ग्रामसेवा-मडलमे और अधिक शोध और प्रयोग होने चाहिए।

दूसरी महत्त्वकी बात यह है कि बुनकर खुद कातकर उसी सूतकी खादी बुने। इसकी तरफ जाजूजीने सबका ध्यान दिलाया है। हिंदुस्तानमे बुनकरोका बहुत बडा वर्ग है। लडाईके समय उनके लिए कोई इतजाम नही हो सकेगा। इसलिए उन्हे भी इस खादीके काममे लगाना चाहिए। मै कई तरहके आकडोपर-से इस परिणामपर पहुचा हू कि आज दूसरोका काता हुआ भला-बुरा सूत बुननेके लिए बुनकर जो मजदूरी पाता है, उससे कम मजदूरी उसे अपना सूत बुननेमे नही मिलेगी। अपना सूत बुनना उसके लिए अधिक आसान तो होने ही वाला है। इस विषयमे भी व्यापक प्रयोगकी आवश्यकता है।

इसीके साथ-साथ वस्त्र-स्वावलबी लोगोका सूत जहाका वही बुनवानेका प्रवध करना होगा। इसके लिए स्वावलबी व्यक्तियोके सूतमे उन्नति होना जरूरी है। सूतमे उन्नतिकी वात आते ही फिर 'दशयत्र-पीजन'पर ही ध्यान जाता है। साधारण 'यत्र-पीजन' वैसे उपयोगी भले ही मान लिया जाय, तो भी लडाईके जमानकी व्यापक योजनामे वह निरुपयोगी है। मेरा यह दावा है कि उस यत्रसे उतनी शास्त्रीय पूनी नही बनती, जितनी इस दशयत्रसे बनती है।

परतु इसमे यह मानी हुई वात है कि यह दशयत्र-पीजन या तुनाई कपाससे ही होनी चाहिए। आज सब जगह प्राय सारी क्रियाओमे रुई ही काममे लाई जाती है। अब रुईकी जगह कपासका उपयोग करना चाहिए। किसानको अपने खेतमेसे अच्छी बडी-बडी डोडीवाली कपासका सचय करना चाहिए। फिर उसे सलाई-पटरी जैसे साधनसे ओट लेना चाहिए। इसमे प्राय एक भी विनौला नही बिगडेगा। किसान छाट-छाटकर अच्छी-अच्छी डोडिया बीनेगा। इसलिए उसे अच्छा बीज मिलेगा और उसका खेत समृद्ध होगा। इस प्रकार कपाससे शुरू करनेमे अनेक लाभ है। रुईसे शुरू करनेमे हम उन्हे गवा देते है।

खादीका अर्थ-शास्त्र सचमुच इतनी पुख्ता नीवपर खडा है कि उससे सस्ता और कुछ भी नही सिद्ध हो सकता। लेकिन उसकी जगह बीचकी ही किसी अलग प्रक्रियाको खादीकी प्रक्रिया मान लेना खादीको नाहक बदनाम करना है।

कार्यकर्ताओंको समग्र-दर्शनके इस विचारपर अच्छी तरह ध्यान देना चाहिए। कहा जाता है कि मिले सस्ती पडती है। हम हिसाब करके दिखा देते है कि वे महगी है। मिलोमे व्यवस्थापक वर्गका जबरदस्त खर्च, यत्र, यत्रोका घिसना, मालका लाना-लेजाना, मालिकोका अजस्र मुनाफा, आदि कई आपत्तिया स्पष्ट ही है। लेकिन फिर भी अगर मिल सस्ती मालूम होती है, तो, या तो उसमें कोई जादू होना चाहिए या फिर हमारे एतराज गलत होने चाहिए। एतराज तो गलत नही कहे जा सकते। तो फिर अवश्य तिलस्म है। वह जादू यह है कि मिल एक विराट् यान्त्रिक रचनाकी जजीरकी एक कडी है। बडे कारखानोमें मुख्य उद्योगके साथ-साथ उससे सबध रखनेवाले दूसरे भी फुटकर उद्योग चलाये जाते है। कारखाना उन उद्योगोके लिए नही चलता। इसलिए उन्हे गौण पैदावार कहते है। इन गौण उद्योगोसे जो आमदनी होती है उससे प्रधान उद्योगको लाभ

होता है और यह सब मिलाकर वह कारखाना आर्थिक दृष्टिसे पुसाता है। मिलकी यही स्थिति है। वह एक समग्र विचार-शृखलाकी कडी है।

मिलोके साथ-साथ रेल आई। शातिके समय माल लाना-लेजाना उनका प्रधान कार्य है। यात्रियोको भी उनसे लाभ होता है। लोगोको लबे सफर करनेकी आदत हो जाती है। उनके विवाह-सम्बन्ध भी दूर-दूरके स्थानोमे होने लगते है और इस तरह रेल उनके जीवनकी एक आवश्यकता हो जाती है। फिर उससे फायदा उठाकर मिलोके विषयमे सस्तेपनका एक भ्रम पैदा किया जा सकता है।

मैने रेलका उदाहरण दिया। ऐसी कई चीजे मिलकी मददके लिए उपस्थित है। इसलिए मिल सस्ती प्रतीत होती है। अगर सिर्फ मिलका ही विचार किया जाय, तो वह बहुत महगी होती है। यही नियम खादीके लिए भी लागू करना चाहिए। अगर अकेली खादीका ही विचार किया जाय, तो वह महगी मालूम होगी। लेकिन ऐसा असबद्ध विचार नही किया जा सकता। किसी सुदर आदमीके अवयव अलग-अलग काटकर अगर हम देखने लगे, तो क्या होगा? कटी हुई नाक खूबसूरत थोडे ही लगेगी? उसमे तो आरपार छेद दिखाई देगे। लेकिन ऐसे पृथक् किये हुए अवयव अपनेमे सुदर न होते हुए भी, सब मिलकर शरीरको सुदर बनाते है। जब हम समग्र जीवनको दृष्टिमे रखकर खादीको उसका एक अग मानेगे, तब खादीजीवन मिलजीवनकी अपेक्षा कही सस्ता साबित होगा।

खादीमे लाने-लेजानेका सवाल ही नही है। वह तो जहाकी वही होती है। घरकी घर हीमे व्यवस्थित-रूपसे रहती है। याने व्यवस्थापकोका काम नही रह जाता। कपडेकी जरूरतसे ज्यादा कपास फिजूल बोई ही नही जायगी इसलिए कपासका भाव हमारे हाथोमे रहेगा। चुनी हुई डोडिया घरपर ही ओटी जायगी, जिससे बोनेके लिए बढिया बिनौले मिलेगे और खेती विशेष सपन्न और प्रफुल्लित होगी। बचे हुए बिनौले बेचने नही पडेगे। वे सीधे गायको मिलेगे और फलस्वरूप अच्छा दूध, घी और बैल मिलेगे। वस्त्र-स्वावलबनके लिए आवश्यक डोडिया सलाई-पटरी या उसीकी विशेषताए रखनेवाली ओटनीपर ओट ली जायगी। वह ताजी साफ रुई आसानीसे धुनी जा सकेगी। वह दशयत्रसे भलीभाति धुनी जायगी और सूत समान तथा मजबूत कत सकेगा। सूत अच्छा होनेके कारण बुननेमे सुगमता होगी। अच्छी बुनावटके कारण वह शरीरपर ज्यादा दिन टिकेगा और कपडा ज्यादा दिन चलनेके कारण उतने अशमे

कपासकी खेतीवाली जमीनकी बचत होगी। अब इस सबमे तेलकी घानी आदि ग्रामोद्योग और जोड दीजिए और देखिए कि वह सस्ती पडती है कि महगी। आप पायेगे कि वह बिलकुल महगी नही पडती। जब खादीका यह 'समग्र दर्शन' आपकी आखोमे समा जायगा, तो खादीकार्यका आरभ कपासकी बजाय रुईसे करनेमे कितनी भारी भूल होती है, यह भी समझमे आ जायगा। और इसके अतिरिक्त सारा खादीकार्य सागोपाग करनेकी दृष्टि भी प्राप्त होगी।

और एक बात, जिससे समग्र दर्शन और स्पष्ट होगा। यह एक स्वतत्र विषय भी है। पाच-छ साल पहले मै रेलमे अपना चरखा खोलकर कातने लगा। वैसे भी मेरी आखे कमजोर है, उसमे फिर गाडीके धक्के लगते थे, इसलिए धीरे-धीरे सम्हलकर कातनेपर भी थोडा-बहुत टूटता ही था। टूटते ही मै अपने सिद्धातके अनुसार उसे फिर जोड लेता था। मेरी बगलमे एक सज्जन बैठे थे। बी० एस्-सी० पास थे। बडे ध्यानसे ये सारी बाते निहार रहे थे। थोडी देरके बाद बोले, "कुछ पूछना चाहता हू।" "पूछिए", मैने कहा। वह बोले, "आप टूटे हुए तारोंको जोडनेमे इतना वक्त खोते है, इससे उनकी वैसे ही फेक देना क्या आर्थिक दृष्टिमे लाभकारी नही होगा?" मैने उनसे कहा, "अर्थशास्त्र दो तरहका है. एक आशिक अथवा एकागी और दूसरा परिपूर्ण। इनमेसे एकागी अर्थशास्त्रको छोड़कर परिपूर्ण अर्थशास्त्रकी कसौटीपर परखना ही उचित है।" वह बोले, "दुरुस्त है।" तब मैने उनसे पूछा, "आप कहते है कि थोड़ा-सा टूटा हुआ सूत अगर अकारथ जाय तो कोई हर्ज नही। लेकिन उसकी क्या मर्यादा हो? कितना फीसदी आप माफ फरमायेगे?" उन्होने कहा, "पाच प्रतिशततक माफ कर देनेमे हर्ज नही है।" तब मैने कहा, "पाच प्रतिशत सूत, जो कि जुड सकता है, फेक देनेका क्या नतीजा होता है, यह देखने लायक है। इसका यह मतलब है कि कातनेवाला इस तरह सौ एकड कपास खेतीमेसे बैठे-बैठे पाच एकडकी उपज यो ही फूक देता है। तातके सौ कारखानोमेसे पाच कारखानोको बेकार कर देता है। कातनेवालोके लिए बनाई गई सौ इमारतोमेसे पाच गिरा देता है। हिसाबकी सौ बहियोमेसे पाच फाड़ देता है", इत्यादि इत्यादि।

इसके अलावा, जिसने पाच-प्रतिशतका न्याय स्वीकार कर लिया, उसके सभी व्यवहारोंको वह ग्रास कर रहेगा। उससे होनेवाली हानि कितनी भयानक होगी, यह समझना मुश्किल नही है। भोजनके वक्त अगर कोई थालीमे बहुत-सी

जूठन छोडकर उठ जाता है, तो हम उसे मस्ताया हुआ कहते हैं। क्योंकि जूठन छोडनेका यह मतलब है कि वह, किसानके बैलसे लेकर रसोई बनानेवाली मा तक, सबकी मेहनतपर पानी फेर देता है। इसलिए जूठन छोडनेसे माका नाराज होना काफी नही है। हल चलानेवाले बैलको चाहिए वह उसे एक लात मारे और किसानसे लेकर दूसरे सब एक-एक धौल जमाये।

इसीलिए हर चीज सामग्र्यकी दृष्टिसे देखनी चाहिए। इसीलिए भगवद्-गीतामे ईश्वरके ज्ञानके पीछे "असशय समग्रम्" ये विशेषण लगाये गये है। हमारे खादीके आदोलनमे समग्र-दर्शनकी बहुत जरूरत है। हम जब खादीको समग्र-दर्शनपूर्वक आगे बढायेगे, तभी, और केवल तभी, वह व्यापक हो सकेगी। यह हमारी कसौटीका समय है।[1]

(ग्राम-सेवा-वृत्तसे सर्वोदय, अप्रैल १९४२)

: १६ :

उद्योगमें ज्ञानदृष्टि

कलके भाषणमे मैने सर्वजनोके लिए जो कुछ मुझे कहना था, सो कहा। आज मेरे सामने विशेषकर स्कूलके लडके और शिक्षक है। उन्हीके लिए कुछ कहूगा।

मेरी दृष्टिसे हमारे शिक्षणमे सबसे बडी जरूरत अगर किसी चीजकी है, तो विज्ञानकी। हिंदुस्तान कृषिप्रधान देश भले ही कहलाता हो, तो भी उसका उद्धार सिर्फ खेतीके भरोसे नही होगा। यूरोपीय राष्ट्र उद्योग-प्रधान कहलाते है। हिदुस्तानमे खेती ही प्रधान व्यवसाय होते हुए भी यहा फी आदमी सवा एकड जमीन है। इसके विपरीत फ्रासमे, जो एक उद्योग-प्रधान देश कहलाता है, प्रति-मनुष्य साढे तीन एकड जमीन है। इसपरसे मालूम होगा कि हिदुस्तानकी

---

[1]ग्राम-सेवा-मंडलकी सर्वसाधारण सभामें (९ जनवरी १९४२को) दिया गया भाषण।

हालत कितनी बुरी है। इसका मतलब यह है कि हिंदुस्तानमे अकेली खेती ही होती है; और कुछ नही होता। अमेरिका (सयुक्त राज्य) ससारका सबसे सघन देश है। उसमे खेती और उद्योग दोनो बहुत बडे परिमाणमे चलते है। वह युद्धके लिए रोज पचपन करोड रुपये खर्च कर रहा है। हमारे देशकी जनसख्या चालीस करोड है। इतने लोगोको हर रोज भोजन देनेके लिए, यहाके हिसाबसे प्रतिदिन पाच करोड रुपया खर्च लगेगा। अमेरिका इतना धनवान देश है कि वह रोज जितना खर्च करता है, उसमे हिंदुस्तानको ग्यारह दिन भोजन दिया जा सकता है। हिंदुस्तानकी फी आदमी सालाना आमदनी खेतीसे पचास-साठ रुपये और उद्योगसे बारह रुपये है। इसीलिए हिंदुस्तानको कृषिप्रधान कहना पडता है। अब जरा इग्लैंडकी तरफ नजर डालिए। वहा भी खेतीकी आमदनी, यहाकी ही तरह, फी-आदमी पचास-साठ रुपये सालाना होती है, और उद्योगकी होती है पाच सौ बारह रुपये। इसपरसे आपको पता चलेगा कि हमारा देश कहा है। यह हालत बदल देनेके लिए हमारे यहाके विद्यार्थी, शिक्षक और जनता, सभीको उद्योगमे निपुण बन जाना चाहिए। उसके लिए उन्हे विज्ञान सीखना चाहिए।

(अ) हमारा रसोईघर हमारी प्रयोगशाला होनी चाहिए। वहा जो आदमी काम करता हो, उसे किस खाद्य पदार्थमे कितना उष्णाक, कितना ओज, कितना स्नेह है, आदि सारी बातोंकी जानकारी होनी चाहिए। उसमे यह हिसाब करनेकी सामर्थ्य होनी चाहिए कि किस उम्रके मनुष्यको, किस कामके लिए कैसे आहारकी जरूरत होगी।

(आ) शौचको तो सभी जानते है। लेकिन स्कूलवालोका काम इतनेसे नही चलेगा। "मैलेका क्या उपयोग होता है ? सूर्यकी किरणोका उसपर क्या असर होता है ? मैला अगर खुला पड़ा रहे तो उससे क्या नुकसान है ? कौनसी बीमारिया पैदा होती है ? जमीनको अगर उसका खाद दिया जाय, तो उसकी उर्वरता कितनी बढती है ?"—आदि सारी बातोका शास्त्रीय ज्ञान हमे हासिल करना चाहिए।

(इ) कोई लडका बीमार हो जाता है। वह क्यो बीमार हुआ ? बीमारी मुफ्तमे थोडे ही आई है ? तुमने उसे गिरहसे कुछ खर्च करके बुलाया है। अतिथि-की तरह उसका खयाल रखना चाहिए। वह क्यो आई, कैसे आई, आदि पूछना चाहिए। उसकी उपयुक्त पूजा और उपचार कैसे किया जाय, यह सीखना चाहिए। जब वह आ ही गई है, तब उससे सारा ज्ञान ग्रहण कर लेना चाहिए। इसमे शिक्षण-

की वात है। 'वह ज्ञानदाता रोग आया और गया, हम कोरे-के-कोरे रह गये !' यह दूसरोके साथ भले ही होता हो; हमारे साथ हरगिज नही होना चाहिए।

(ई) तुम यहा सूत कातते हो, खादी भी बना लेते हो। तुम्हे वधाई है। लेकिन खादी-क्रियाके वारेमे शास्त्रीय प्रश्नोके जवाव यदि तुम न दे सके, तो पाठशाला और उत्पत्ति केंद्र यानी कारखानेमे फर्क ही क्या रहा ? लेकिन मै तो अपने कारखानेसे भी इस ज्ञानकी आशा रक्खूगा।

मुझसे कहा गया है कि यहाके लडके अग्रेजी वगैराकी परीक्षामे पास होते है, दूसरे विद्यालयोके लडकोसे किसी तरह कम नही है, आदि आदि। लेकिन लडके पास होते है इसमे कौन-सी वडी वात है ? हमारे लडके नालायक थोडे ही है ? जरा विलायतके लडकोको इतिहास और भूगोल मराठीमे सिखाकर देखिये तो ? देखे कितने पास होते है। कई साल पहले वडौदेमे एक साहव आया था। उसने गीताका पूरे बीस वर्षतक अध्ययन किया था। यो उसने अच्छा भाषण दिया। परतु वह सस्कृतके वचनोके उच्चारण ठीक नही कर सका। उसने कहा :

'कुरु कर्म्मैव टस्माट् ट्वम्'
(कुरु कर्मैव तस्मात् त्वम्)

वीस-वीस साल अध्ययन करनेपर भी उनका यह हाल है। हमारे यहा सैकडो आदमी उनकी भाषामे खूव वोल लेते है। लेकिन यह हमारी इस भूमिका ही गुण है। हजारो वर्षोसे यहा विद्याकी उपासना होती आई है। यह कोई यहाके पाठकोका गुण नही है। इसलिए हमे अग्रेजी भाषाके ज्ञानसे सतोष नही मानना चाहिए। हमे आरोग्यशास्त्र, रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञान, यत्रशास्त्र आदि शास्त्र सीखने चाहिए। शास्त्रो और विज्ञानोकी इस तालिकाको देखकर आप घवराइये नही। आप उन्हे उद्योगके साथ बडी आसानीसे सीख सकेगे।

दो विद्याए सीखना आवश्यक है एक हमारे आसपासकी चीजोको परखनेकी शक्ति, अर्थात् विज्ञान। और, दूसरी, आत्मज्ञानपूर्वक सयम करनेकी शक्ति; अर्थात् अध्यात्म। इसके लिए वीचमे निमित्तमात्र भाषाकी जरूरत होती है। उसका उतना ही ज्ञान आवश्यक है। भाषा चिट्ठीरसाका काम करती है। अगर मै चिट्ठीमे कुछ भी न लिखू, तो वह कोरा कागज भी चिट्ठीरसा पहुचा देगा। भाषा विद्याका वाहन है। यह भी कोई कम कीमती वात नही है।

विज्ञान और अध्यात्म ही विद्या है। उसीका मै विचार करूगा। मेरा चरखा अगर टूट गया, तो क्या मै रोता बैठूगा? मै वढईके पास जाकर उसे सुधरवा लूगा। उसी तरह, अगर मुझे बिच्छूने काट खाया, तो मुझे रोते नही बैठना चाहिए। उसका उपचार करके छुट्टी पानी चाहिए। इसी प्रकार आत्माकी अलिप्तताका ज्ञान होना चाहिए। उसकी मुझे आदत हो जानी चाहिए। यही मेरी शालाकी परीक्षा होगी। मै भाषाका पर्चा निकालनेकी झझटमे नही पडूगा। लडकोकी बोलचालसे ही मै उनका भाषा-ज्ञान भाप जाऊगा।

विद्यार्थी भोजन करते है और दूसरे लोग भी भोजन करते है। लेकिन दोनोंके भोजन करनेमे फर्क है। विद्यार्थियोका भोजन ज्ञानमय होना चाहिए। जब विद्यार्थी अनाज पीसेगा और छानेगा, तो वह देखेगा कि उसमेंसे कितना चोकर निकलता है। मान लीजिये कि सेरमे आठ तोले चोकर निकला। यानी दस-प्रतिशत चोकर निकला। यह बहुत ज्यादा हुआ। दूसरे दिन वह पडोसीके यहा जाकर वहाका चोकर तौलेगा। वह देखता है कि उसके आटेमेंसे ढाई तोले ही चोकर निकला है। दस-प्रतिशत चोकर निकलनेमे क्या हर्ज है? उतना चोकर अगर पेटमे जाय, तो नुकसान क्यो होगा?—आदि प्रश्न उसके मनमे उठने चाहिए और उनके उचित उत्तर भी उसे मिलने चाहिए। जब ऐसा होगा, तो, जैसा कि गीतामे कहा है, उसका हर एक काम ज्ञान-साधन होगा। अगर बुखार आया, तो वह ज्ञान दे जायगा। वह भी प्रयोग ही होगा। फिर उस तरहका बुखार नही आयगा। जहा हर एक काम इस तरह ज्ञान-दृष्टिसे, किया जाता है, वह पाठशाला है और जहा वही काम कर्म-दृष्टिसे होता है वह कारखाना है।

इस प्रकार प्रयोगबुद्धिसे, ज्ञानदृष्टिसे, प्रत्येक काम करनेमे थोडा खर्च तो होगा। लेकिन उससे उतनी कमाई भी होगी। स्कूलमे जो चरखा होगा वह बढिया ही होगा। चाहे जैसे चरखेसे काम नही चलेगा। स्कूलमे काम चाहे थोडा कम भले ही हो, लेकिन जो कुछ काम होगा, वह आदर्श होगा। कपास तौलकर ली जायगी। उसमेंसे जितने बिनौले निकलेगे, वे भी तौल लिये जायगे। रोजियामेंसे जब इतने बिनौले निकले, तब व्हेरममेंसे इतने क्यो, इस तरहका सवाल पूछा जायगा। और उसका जवाब भी दिया जायगा। बिनौला सरीखे आकारका होकर भी दोनोंके वजनमे इतना फर्क क्यो? बिनौलेमें तेल होता है, इसलिए वह हलका होता है। फिर यह देखा जायगा कि इसी तरहके दूसरे धान्य

कौन-से हैं। इसके लिए तराजूकी जरूरत होगी। वह बाजारसे नही खरीदा जायगा। स्कूलमे ही बनाया जायगा। जब हम यह सब करनेका विचार करेंगे, तभीसे विज्ञान शुरू हो जायगा। हरएक काम अगर इस ढगसे किया जाय, तो वह कितना मनोरजक होगा? फिर उसे कौन भूलेगा? अकबर किस सन्मे मरा, यह रटनेकी क्या जरूरत है? वह तो मर गया, लेकिन हमारी छातीपर क्यो सवार हुआ? मै इतिहास रटनेको पैदा नही हुआ हू। मै तो इतिहास बनानेके लिए पैदा हुआ हू।

शिक्षककी दृष्टिसे हरएक चीज ज्ञान देनेवाली है। उदाहरणके लिए, मैलेकी ही बात ले लीजिये। वह बहुत बडा शिक्षण देता है। मैंने तो उसके बारेमे एक श्लोक ही बना डाला है "प्रभाते मलदर्शनम्" (सवेरे मैलेका दर्शन करो)। सवेरे मैलेके दर्शनसे मनुष्यको अपने स्वास्थ्यकी स्थितिका पता चलता है। मैलेमे अगर मूगफलीके टुकडे हो, तो वे पेटपर पिछले दिन किये हुए अत्याचार तथा अपचन-का ज्ञान और भान करायेंगे। उसके अनुसार हम अपने आहार-विहारमे फर्क कर लेगे। आप चाहे कितनी ही सावधानी और सफाईसे रहिये, आखिर मैला तो गदा ही रहेगा। सवेरे उसके अवलोकनसे देहासक्ति कम होगी और वैराग्य पैदा होगा। मा जाडोमे जिस तरह बच्चेको कपडेसे ढकती है, उसका कोई भी अग खुला नही रहने देती, उसी तरह हम भी बडी सावधानीसे सूखी मिट्टीसे अगर मैलेको ढक दे और यथासमय उसे खेतमे फैला दे, तो वही मैला हमारी लक्ष्मीको बढायेगा।

इसी तरह पाठशालामे प्रत्येक काम ज्ञानदायी और व्यवस्थित होगा। लडका बैठेगा, तो सीधा बैठेगा। अगर मकानका मुख्य खभा ही झुक जाय, तो क्या वह मकान खडा रह सकेगा? नही। उसी तरह हमे भी अपने मेरु-दडको हमेशा सीधा रखना चाहिए। पाठशालामे यदि इस प्रकारसे काम होगा, तो देखते-देखते राष्ट्रकी कायापलट हो जायगी। उसका दु ख-दैन्य गायब हो जायगा, सर्वत्र ज्ञानकी प्रभा फैलेगी।

स्कूलमे होनेवाला प्रत्येक काम ज्ञानका साधन बन जाना चाहिए। इसके लिए स्कूलोको सजाना होगा। अच्छे-अच्छे साधन जुटाने होगे। श्रीरामदास स्वामीने कहा है, 'देवताका वैभव बढाओ।' लोगोको अपने घर सजानेके बदले शालाए सजानेका शौक होना चाहिए। उन्हे शालाको आवश्यक चीजे उपलब्ध करा देनी चाहिए। लेकिन इतना ही बस नही है। एकाध दानवीर मिल जाता

है और कहता है, 'मैंने इस शालाको इतनी सहायता दी।' लेकिन अपने लडकोको किस स्कूलमे भेजता है ?——सरकारी स्कूलमे। सो क्यो ? अगर आप राष्ट्रीय पाठशालाओको दानके योग्य मानते है, तो उन्हे सब तरहसे सपन्न और सुशोभित करके अपने लडकोको वही क्यो नही भेजते ?

लडके राष्ट्रके धन है। लेकिन उनके भोजनमे न दूध है, न घी। फी लडकेका मासिक भोजनखर्च ढाई रुपये है। इसे क्या कहा जाय ? हम सारे राष्ट्रकी अवस्थाको भूल नही सकते, यह तो माना। लेकिन फिर भी जितना कम-से-कम जरूरी है, उतना तो मिलना ही चाहिए। पिछले दिनो यह शिकायत थी कि जेलमे कैदियोको उचित खुराक नही मिलती, दूध नही मिलता। गाधीजीकी सूचनासे बाहरके डॉक्टरोने यह तय किया कि निरामिषभोजी व्यक्तिके लिए कम-से-कम कितने दूधकी जरूरत है। उनके निर्णयके अनुसार हरएक व्यक्तिको कम-से-कम तीस तोले दूध मिलना चाहिए। और सरकार अगर कैदियोंको रखती है, तो उसे उनकी कम-से-कम आवश्यकता पूरी करनी ही चाहिए। लेकिन अगर हम अपने विद्यालयोमे ही इस नियमपर अमल नही करते, तो सरकारसे आशा करना कहातक शोभा देगा ? लडकोको दूध मिलना ही चाहिए। उन्हे अच्छा अन्न मिलना ही चाहिए। वरना उनमे तेज नही पैदा होगा।

मैंने कुछ बाते शिक्षकोके लिए, कुछ छात्रोके लिए और कुछ औरोके लिए कही है। ये सब मेरे अनुभवकी बाते है। आशा है कि उनका उचित उपयोग होगा।[1]

(ग्राम-सेवा-वृत्तसे सर्वोदय, मई १९४२)

: १७ :

ग्राम-सेवाका तंत्र

मैंने आज मुख्यत मगनवाडीके विद्यार्थियोके दर्शनके लोभसे यहा आना स्वीकार किया। मै प्रमाणपत्र देने आया ही नही हू। क्योंकि प्रमाणपत्रमे मुझे

---

[1] तुमसरकी 'तिलक राष्ट्रीय शाला'के विद्यार्थियो और गांवके तरुणोकी सभामें (१४ फरवरी १९४२को) किया प्रवचन।

श्रद्धा नही है। जिन विषयोमे मुझे प्रमाणपत्र मिले, उन विषयोका मेरा ज्ञान नहीके वरावर है और जिन विषयोमे मैने परीक्षा ही नही दी, उनका मुझे अच्छा ज्ञान है। लेकिन यहा दिये गये प्रमाणपत्र परीक्षाके नही है, इसलिए मै आशा करता हू कि वे निरर्थक नही ठहरेगे।

यहासे ये विद्यार्थी देहातमे जायगे। उन्होने देहातकी सेवाके लिए ही शिक्षण पाया है। इस समय देहातमे कार्य करनेकी काफी गुजाइश है। और मै समझता हू कि आप सव लोग गावोमे जाकर किसी-न-किसी उद्योगको शुरू करेगे। लेकिन आपको वहा वहुत सावधानीसे रहना होगा। देहातियोके जीवनका मान (दर्जा) वहुत-कुछ नीचा है। लेकिन उनका सेवाका मान वहुत ऊचा है। इसलिए आजतक केवल सतोने ही देहातोकी सेवा की है। दूसरोने तो उन्हे अपने फायदेके लिए चूसा ही है। इसलिए वहा सेवाका प्रमाणपत्र आसानीसे नही मिलता। वहा हमे रातदिन अतद्रित रहकर काम करना होगा। देहातके लोग अपढ है, इसलिए हमे यह न समझना चाहिए कि हमारी अल्पस्वल्प विद्यासे काम चल जायगा। यह सही है कि देहातियोमे इल्म और हुनरकी कमी है। लेकिन वे अपने कामसे वाकिफ है। जो काम करते है, सो ठीक-ठीक करते है। उदाहरणके लिए खेतीके कामको ही ले लीजिए। उस उद्योगमे वे काफी होशियार होते है। इसलिए यह नही समझना चाहिए कि हमारे अधकचरे ज्ञानसे काम चल जायगा। हमारे ज्ञानकी कसौटी होगी। इसलिए हमे अतद्रित रहना होगा। यह कहनेका रिवाज-सा पड गया है कि देहाती लोग आलसी होते है। यह आक्षेप विलकुल ही वेवुनियाद हो, सो वात नही। लेकिन वहुत वडे अशमे वह दतकथा ही है। शहरोकी तरह देहातोमे भी कुछ लोग निठल्ले होते है। लेकिन जिस कामको वे करते है, उसे इतना करते है कि उससे अधिककी अपेक्षा नही की जा सकती। ऐसी स्थितिमे देहातमे अगर हमारी उद्योगशीलता अपर्याप्त सावित हुई, तो हमे परीक्षामे फेल हुए समझना चाहिए।

जव हम देहातोमे जायगे, तो हमारे सामने एक विराट जगत खुलेगा। कई स्त्री-पुरुषोसे सपर्क होगा। हमारा ध्यान अचूक उनके गुणोकी तरफ ही जाना चाहिए। दोषोकी तरफ प्रवृत्ति हरगिज नही होनी चाहिए। मै मनुष्यके चित्तको घरकी उपमा दिया करता हू। घरमे दीवारे होती है और दरवाजे होते है। मनुष्यके गुण उसके चित्तके दरवाजे है और दोष दीवारे। विलकुल गरीवसे गरीवके

मकानमे भी एकाध दरवाजा तो होता ही है। गुणके दरवाजेमेसे ही मनुष्यके चित्तमे प्रवेश करना चाहिए। दरवाजेमेसे अदर जाना सरल है। दीवारमेंसे घुसनेकी कोशिश की जाय, तो सिर फूटेगा। दोषोमेसे जो किसीके चित्तमे प्रवेश करनेकी चेष्टा करेगा, उसकी यही हालत होगी। इसलिए गुणग्राहक वृत्ति होनी चाहिए। दर असल हमे सभी स्त्री-पुरुषोमे भगवान्‌की मूर्तिया दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा होगा, तब हमारा कार्य सुकर होगा।

हम ससारमे नाना वादोकी चर्चा सुनते है। अनेक पक्ष देखते है। लेकिन सेवकोको सभी वादो और पक्षोसे अलग रहना चाहिए। हमारे लिए सारे ससारमे दो ही पक्ष है—एक सेवक और दूसरा सेव्य या स्वामी। हम खुद सेवक है और दूसरे सब स्वामी। हमे स्वामीकी सेवासे ही सतोष मानना है। यही सेवकका धर्म है। सेवकको दलबदियोसे क्या मतलब ? देहातमे गुटबदिया भरपूर होती है। यह भी नही कि उनके पीछे कोई सिद्धात होता हो। प्राय द्वेष और स्वार्थ होता है। सेवकको इस तरहके किसी भी दलमे नही पडना चाहिए। उसे निष्पक्ष रहकर सेवा करनी चाहिए। सेवा करना ही उसका काम है। हमारी सेवासे कौन खुश होता है और कौन नाराज, इससे हमे क्या करना है ? हृदयस्थ भगवान् प्रसन्न हो, इतना काफी है।

उद्योग और विद्या अलग-अलग नही है। जहा इन्हे अलग कर दिया जाता है, वहा दोनो बेकार हो जाते है। विद्याको अगर सिर कहा जाय, तो उद्योग उसका धड कहलायेगा। दोनोको अलग करना, दोनोंको मार डालना है। अर्थात् राहूके जैसी हालत होगी। लेकिन यहा तुम्हे विद्या और उद्योगका लाभ एकत्र हुआ है। तुम्हे उद्योगके साथ-साथ ही विद्या दी गई है। अत तुम्हारी विद्या वीर्यहीन नही होगी। तो भी अब देहातमे जानेपर तुम्हे कई भिन्न-भिन्न काम करने पडेगे। प्रबध देखना, हिसाब लिखना, पढाना, प्रसगवश व्याख्यान देना, आदि कई बाते ग्राम-सेवाके सिलसिलेमे करनी ही पडती है। लेकिन मै कहूगा कि इन सब कामोको करते हुए भी तुम्हे रोज कुछ समय प्रत्यक्ष उद्योगमे बिताना चाहिए। इससे तुम्हारी विद्या ताजी रहेगी, तुम्हे नये-नये शोधोंका ज्ञान रहेगा और नये शोध सूझते रहेगे। कई बार ऐसा पाया जाता है कि अच्छे-अच्छे उद्योगमे निपुण लोग भी जब सेवा-कार्य करने लगते है, तो शरीरश्रम करना भूल जाते है। कहते है, 'वक्त ही नही मिलता।' लेकिन इससे कार्यकर्ताओंमे तथा

उनके कार्यकी हानि ही हुई दिखाई देती है। उद्योगसे नित्य परिचय न रहनेके कारण ज्ञान पिछड जाता है। फिर पुराने ज्ञानकी पूजीसे ही काम चलाया जाता है। यह ठीक नही है। इसलिए ग्राम-सेवकको प्रतिदिन कुछ समय—मेरे विचारमे, अगर सभव हो तो, आधा समय—उद्योगके लिए देना चाहिए। उसे ग्राम-सेवाका अग ही समझना चाहिए।

आप देहातोमे जायगे, लेकिन वहाकी जमीन कडी होती है। यहा सस्थामे तुम्हारे लिए सारी सुभीतेकी चीजे मौजूद है। देहातोमे सब असुविधाए मौजूद होगी। फ्च्चर टूट गई, बढईगिरी आती नही, बढई मिलता नही, कोल्हू रुका पडा है—ऐसी अवस्थामे हिम्मत नही हारनी चाहिए। धीरज रखना चाहिए। छोटी-से-छोटी बातका पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिए। बल्कि छोटी चीजोको अधिक महत्त्व देना चाहिए। बडी बाते सहसा कोई भूलता ही नही , क्योकि वे बडी ठहरी। इसलिए छोटी मालूम पडनेवाली बातोपर ही अधिक ध्यान देना चाहिए। अन्यथा उनके ज्ञानके अभावमे कही गाडी न रुक जाय। बुनाईमे खासी निपुणता प्राप्त करके एक आदमी देहातमे करघा लगाकर बैठा। लेकिन वह बुननेमे निपुण होते हुए भी करघा जमाना भली-भाति नही जानता था। इसलिए उसके करघेपर कपडा, जितना चाहिए उतना, अच्छा नही बुना जा सकता था। जो कोई उस करघेपर कपडा बुनने जाता, उसका कपडा बिगड जाता। यह किस बातका नतीजा था ? करघा जमाना एक तुच्छ बात है ऐसा समझकर उसपर ध्यान न देनेका।

मुझे जो कुछ कहना था, मैने थोडेमे कहा है। तुम्हे आज यहा सस्थाकी तरफसे प्रमाणपत्र तो मिले है। लेकिन सच्चे प्रमाणपत्र जनतासे ही प्राप्त करने है। और वे तुम्हे सच्ची सेवाके गुणके लिए ही मिलेगे।

अतमे मै आशा करता हू कि आप लोग देहातोमे जाकर जनताकी भलीभाति सेवा करके वास्तविक प्रमाणपत्रोके अधिकारी बनेगे।[1]

(ग्राम-सेवा-वृत्तसे सर्वोदय, जून १९४२)

---

[1] मगनवाडी (वर्धा) में ग्राम-सेवक विद्यालयके पदवीदान समारभके अवसर पर (२९ अप्रैल १९४२को) अध्यक्ष पदसे दिया गया भाषण।

: १८ :

कृपया तशरीफ ले जाइये

मेरा आज व्याख्यान देनेके लिए आनेका इरादा नही था। जो भाई पहले मुझे बुलाने आये थे, उनको लौटा भी दिया था। उन्होंने कहा कि फलाने बडे सज्जनने आकर हमे समझाया है, तुम भी आओ। लेकिन मैने सोचा, जब इतने सज्जन पहले ही आ चुके है और आ रहे है, तो मेरे जानेकी जरूरत नही। यानी जो कारण वे भाई मेरे यहा आनेके लिए बतला रहे थे, वही मेरी दृष्टिमे न आनेके लिए अच्छा कारण था। लेकिन गोपालरावने बहुत आग्रह किया; इसलिए आना पडा।

मेरा न आनेका दूसरा भी एक कारण था। आजकल जितने मुह उतने विचार बोले जाते है। मतभेदोका बाजार-सा लग रहा है। इस हालतमे मैने सोचा कि जब इतने आदमी आपको अपनी-अपनी राये सुना चुके है, तो मेरा अपनी राय सुनाना शायद आपकी बुद्धिको अधिक भ्रममे डाल दे। गीतामे भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि बहुत सुन-सुनकर तेरी बुद्धि भ्रममे पड गई है। इस भ्रमजालमेसे जब छूटेगा, तब कही तुझे सच्चा ज्ञान होगा। आपके यहा पहले अगर दस आदमी आ चुके हों, तो मै ग्यारहवा आकर, सभव है, कि आपकी बुद्धिमे अधिक भ्रम पैदा कर दू। इससे कार्यकी हानि ही होगी। यह सोचकर मै आना नही चाहता था। लेकिन आग्रह-वश आना पडा।

जवाहरलालजी बहुत दफा मौजूदा सरकारकी कडी टीका किया करते है। वह कहते है कि इसका कारोबार इतना अव्यवस्थित और निकम्मा है कि उससे बढकर निकम्मा दूसरा हो ही नही सकता। इस सरकारकी अक्षमताका पार नही ह। उनकी टीकासे मै पूरी तरह सहमत हू। लेकिन मेरे विचारमे यह हाल सिर्फ हिंदुस्तानकी सरकारका ही नही, दुनिया की सभी सरकारोंका है। लेकिन हिंदुस्तान-सरकारकी एक खुसूसियत है, उसने यहाकी प्रजाको नि.शस्त्र बना रखा है। इसलिए वह बडी निश्चित होकर बडे आरामसे राज्य करती थी। अब अचानक आफत आ गई है। उसका सामना करनेकी बुद्धि और ताकत अब हमारी सरकारमे नही है। लेकिन यह भारत-सरकारकी विशेषता है।

परतु आज तो जगतके सभी राज्यतत्र बेकार साबित हो चुके है। इसका एक कारण है। उसपर आपको ध्यान देना चाहिये। जैसे-जैसे यत्रोकी क्षमता बढती जाती है, वैसे-वैसे बुद्धिकी क्षमता घटती जाती है। इसलिए जहा देखिए, अव्यवस्थाका ही साम्राज्य फैला हुआ है।

जबसे अमेरिका जैसा बडा और प्रतापी राज्य युद्धमे शामिल हुआ है, तबसे युद्धका सारा कारोबार अमेरिकाकी ही सलाहसे चलता है। चौबीस हजार मील लबी दुनियाका सारा व्यवहार, अमेरिका कहता है, हम करेगे सामान इधरसे उधर हमारी सलाहसे जायगा, यूरोपका उद्धार हमारे जरिये होगा, हिदुस्तान को हम बचायेगे, जापानका मुकाबिला हम करेगे, आस्ट्रेलियाकी मदद हम करेगे।

अमेरिकाकी तरफसे उसके अध्यक्ष, रूजवेल्ट यह कह रहे है। जो सबसे बुद्धिमान व्यक्ति होता है वही अध्यक्ष चुना जाता है, ऐसी बात नही। पुराने जमानेमे राजाका पुत्र राजा बनता था। कभी-कभी नसीबसे वह बुद्धिमान होता था। उसी तरह आज जो व्यक्ति चुने जाते है, वे भी नसीबसे ही बुद्धिमान होते है। ज्यादा सभव यही है कि उनमे अधिक बुद्धि नही होती। जिनमे बुद्धि कम और अहकारकी मात्रा अधिक होती है, वे ही अक्सर चुने जाते है। क्योकि ऐसे व्यवहारोमे वे ही पडते है। बुद्धिमान तो दूर-दूर ही रहते है, क्योकि वे दुनियापर कम-से-कम सत्ता चलानेमे ही बुद्धिमानी समझते है। इसलिए, याने अपनी इस निष्ठाके कारण ही, राजकाजमे कम दखल देते है। अक्सर जो लोग राष्ट्रके नेता बन जाते है, वे बुद्धिसे श्रेष्ठ नही होते। उस देशकी आम जनताकी बुद्धिसे चाहे उनकी बुद्धि कम न हो। शायद कुछ अधिक भी हो। तो भी वे बुद्धिमान नही कहे जा सकते।

इसके अलावा, उनसे जब कोई सलाह पूछी जाती है, तो उन्हे फौरन जवाब देना पडता है। फौरन पूछने और फौरन जवाब देनेके शीघ्र-औजार तैयार हुए है। पाच दस मिनिटमे दुनियाभरके कारोबारका जवाब देना पडता है। यह कोई हँसीकी बात नही है। बेचारे क्या करे? जैसा सूझता है, जवाब देते है। इसलिए मै कहता हू कि कारोबार बुद्धिसे नही चल रहा है। सारा नसीबका खेल है।

इसलिए जबसे अमेरिका युद्धमे शामिल हुआ, तभीसे मुझे यह विश्वास हो गया कि यह युद्ध अब मानवके हाथमे नही रहा, बल्कि मानव ही युद्धके हाथमे

चला गया है। जावा और मलायामे इनकी वुद्धि चकरा गई। सूझबूझ धरी रह गई। तवसे सामान्य मनुष्यको भी यह शका होने लगी है कि इतना वडा साम्राज्य चलानेवालोमे वुद्धिकी इतनी पोल और व्यवस्था-शक्तिकी इतनी कमी कैसे रह गई? सिगापुर और वर्मामे इनकी ऐसी दुर्दशा क्यो हुई?

वे कह सकते हैं कि तुम लडाईसे दूर-दूर रहते हो, इसलिए ऐसी वाते कर सकते हो। हमे जो सूझता है, वह करते है। तुम अगर हमारी जगह होते और इतनी वडी जिम्मेवारी तुमपर होती, तो हमसे भी ज्यादा गलतिया करते।

मैं कवूल करता हू कि हम काफी भूले करते। लेकिन मैं यह पूछता हू कि यह जिम्मेवारी आपके सिरपर डाली किसने? वे जवाव देते है, "इतिहासने डाली है। पहले ईस्ट इडिया कपनी कायम हुई, इस देशसे तिजारत शुरू हुई, क्लाइवने व्रिटिश राज्यकी नीव डाली, वारन हेस्टिग्जने वाकायदा राज्यकारवार जारी किया। इस तरह इतिहासने धीरे-धीरे यह जिम्मेवारी हमे सौपी है। अव हम उसे छोड नही सकते"।

हम कहते है, "अगर आप इतने दूरसे यहा आ सकते थे, तो जा भी नही सकते है क्या? क्या वापस जानेसे इतिहासके पृष्ठ आपको रोकते है? जैसे आनेका इतिहास वना, वैसे जानेका भी तो इतिहास वन सकता है। आनेका इतिहास भद्दा और भयानक है। वापस चले जानेका इतिहास उज्ज्वल और खूवसूरत होगा। उसमे सुदरता और नीतिमत्ता होगी। आप ऐतिहासिक जिम्मेवारीके वोझसे नाहक क्यो दवे जा रहे है?

दूसरे राष्ट्र भी इसी ऐतिहासिक जिम्मेवारीके भ्रमजालमे फसे हुए है। वे नही जानते कि इतिहास आखिर मानवकी ही करतूत है। इतिहास हमको वनाता है यह कुछ अशोमे सही है। लेकिन उसी तरह यह भी सही है कि हम भी इतिहासको वनाते है। आज तो ऐतिहासिक जिम्मेवारीका ढकोसला नाहक हमारे सामने रचा जा रहा है। रूजवेल्ट कहता है, "प्रशात महासागर अमेरिकाकी वगलमे है। उसकी और उसमे वसे हुए टापुओकी जिम्मेवारी हमारी है"। जापान कह सकता है कि हमारा तो टापू ही प्रशात महासागरमे वसा हुआ है। इसलिए हमारी जिम्मेवारी विशेष है। इस तरह यह जिम्मेवारियोका व्यर्थका झगडा चलता है।

लेकिन मेरे विचारमे सबसे भयानक वस्तु यह है कि इस हत्याकाडमे आम जनताको निष्कारण दाखिल किया जाता है। जिस जनताको युद्धसे कोई मतलब नही है, उसका खून बहाया जाता है उसके नामपर दूसरे लोगोका खून बहाया जाता है। यह सारी व्यवस्थापकोकी करतूत है। उसमे आम जनताका कोई लाभ नही है। इसलिए दुनिया भरके व्यवस्थापकोसे हम कहते है कि अब आप व्यवस्था छोड दीजिये। तभी हम सुखी होगे। हम अपने यहाके व्यवस्थापकोसे प्रार्थना करे। अमेरिका, इग्लैंड, जापान, जर्मनी अपने-अपने व्यवस्थापकोसे विनती करे। न मालूम वहाके लोगोको कब सूझेगी। कम-से-कम हम तो शुरू कर दे। हम उनसे कहे कि तुमने हजार सालसे व्यवस्थाके कई प्रयोग किये। हमे कोई सुख नही हुआ। आपकी व्यवस्थामे कई उलट-फेर हुए। एकमेसे दूसरी व्यवस्था कायम की गई। कई क्रातिया हुई, लडाइया हुई। लोगोका व्यर्थ सहार हुआ। आपने बहुत प्रयोग कर लिये, अब बस कीजिये। ज्यादा-से-ज्यादा अव्यवस्था और पीडा व्यवस्थापक वर्गने ही दी है। आपने काफी कोलाहल मचा दिया। अब मेहरबानी करके हट जाइये, तो हममे ज्यादा शक्ति आयेगी, दु ख मिट जायगा और सुख होगा।

व्यवस्थापक वर्ग कहता है, तुम्हारी व्यवस्थाके लिए हमारी जरूरत है। हम कहते है, हमारी कौनसी जरूरते तुम पूरी करते हो? हमे भूख लगती है। परमात्माकी दी हुई जमीनमे हम खेती करते है। व्यवस्थापक वर्ग खेती नही करता। खेतीके द्वारा फसल पैदा करनेकी कला परमात्माकी कृपासे और दस लाख सालके अनुभवसे प्राप्त हुई है। इसलिए हमारी भूख मिटानेके लिए तुम्हारी कोई जरूरत नही है। प्यास बुझानेके लिए भी तुम्हारी जरूरत नही है। बारिश होती है, जलाशयोमे पानी भर जाता है। इस तरह हमे जमीनमेसे अन्न और आस्मानसे पानी मिल जाता है। अब रही हवा। उसके लिए भी व्यवस्थाकी जरूरत नही। परमात्माने हर एक को एक-एक नाक दी है। दस आदमियोको मिलाकर एक नाक नही दी। ऐसा तो नही होता कि एक आदमी अपनी नाकमे हवा बटोर ले और उसे दस आदमियोमे बाट दे। आपस-आपसके व्यवहारकी भी वही बात है। नीतिशास्त्रसे हमने विवाह करके कुटुब-सस्था बनाना सीखा है। सतोने हमे पडोसीसे प्रेम करना सिखाया है। इस प्रकार हमारी सारी जरूरते पूरी हो जाती है। राज्यव्यवस्थापकोके लिए अब बचता ही क्या है?

सिर्फ एक वस्तु वाकी रह जाती है । किसानको जितनी फसल होगी, उतनी सारी वह कैसे खायगा । आस्मानके पक्षी और जमीनके चूहे कुछ हिस्सा वटा लेते है । लेकिन तो भी अन्नके ढेर लग जायेगे । किसान उनका क्या करेगा ? इसलिए किसानका बोझ कम करनेकी जरूरत है । और व्यवस्थापक वर्ग उसकी पैदावारका कुछ हिस्सा इसीलिए ले लेता है । हम कहते है कि किसानके बोझकी फिक्र आप न कीजिये । वह कम अनाज पैदा करेगा । उसे आराम मिलेगा । उसके लिए उसे आपको टैक्स देनेकी जरूरत नही ।

इस तरह जीवनके सभी कार्य व्यवस्थापक वर्गके बिना ही सपन्न हो जाते है तव व्यवस्थापक वर्ग कहता है कि हम आपको तालीम देते है, आपकी रक्षा करते है। इधरका सामान उधर ले जाने मे मदद करते है ।

इन कामोके लिए भी हमे व्यवस्थापक वर्गकी जरूरत नही है । वच्चा आस्मान-से तो नही टपकता । वह वे-मा-वापका नही होता । पैदा होते ही माके स्तनमें उसके लिए दूध पैदा होता है । इस तरह मातासे उसे रक्षण मिलता है। माता ही उसे मातृभाषा सिखाती है । इस प्रकार उसे रक्षा और तालीम मिल जाती है । तालीमके लिए उसे तीसरेके सुपुर्द करनेका सवाल ही कहा है ? हा, वच्चा अगर विना मा-वापके पैदा होता, तो यह सवाल कठिन हो जाता । वच्चेको मा-बापसे जो शिक्षा मिलती है, उससे अच्छी शिक्षा और कहा मिल सकती है ? आज तो शिक्षाके नामपर ढोग ही ढोग चलता है । अच्छी तालीम किसे मिली, इसका उपनिषदोंमे अच्छा वर्णन दिया है—'मातृमान्, पितृमान्, आचार्य-वान्' । 'जिसके माता, पिता और आचार्य है, उसने उत्तम शिक्षा पाई है'। पहली दो वाते व्यवस्थापको द्वारा नही मिलती। समाजमे ज्ञानी या गुरुका होना भी राज्यव्यवस्थापर निर्भर नही है । यह कोई नही कह सकता कि फलाना राज्य था, इसलिए अमुक ज्ञानी पुरुष पैदा हुआ । अकवरका राज्य था इसलिए तुलसीदास पैदा हुए हो, ऐसी वात नही है। सच्चे ज्ञानी स्वयभू होते है। वे सृष्टिसे ज्ञान लेते है । वे शिक्षण-सस्थाओमे शिक्षा नही लेते; ईश्वरकी कृपासे ज्ञानी वनते है। खुद शिक्षण-शास्त्र ही कहते है कि सच्चे ज्ञानी शिक्षण-सस्थाओके वाहर ही होते है ।

तो फिर राज्यपद्धति क्या करती है ? वह तालीमका एक ढाचा वना देती है । हुक्मके मुताविक कुछ वाते लडकोके दिमागमे ठूसनेकी प्रणाली वना देती

है। 'टू ऑर्डर' यानी 'हुक्मके मुताबिक' माल तैयार करनेवाली पाठशालाए कायम करती है। इग्लैड, रूस, अमेरिका, जर्मनी आदि सभी देशोमे यही होता है। इस प्रकार सरकारी तालीम लोगोको बुद्धिसे गुलाम बनानेके लिए होती है। जर्मनीमे लोगोको सिखाया जाता है कि हेर हिटलरको ईश्वरका अवतार मानो। हिंदुस्तानमे सिखाया जाता है कि अग्रेजोका यहा आना जरूरी था। वे यहा अच्छी व्यवस्था कर रहे है। उत्तम कार्य कर रहे है। उनके आनेसे हिंदुस्तानका फायदा हुआ है। इस प्रकार अपने शिक्षा-विभागके द्वारा सरकार तालीमके कार्यमे बिगाड ही पैदा करती है। जितने नये-नये शोध और प्रयोग हुए है, सरकारके क्षेत्रके बाहर ही हुए है। पेस्टोलॉजी, फ्रेगल, माटेसरी आदिके प्रयोग सरकारी महकमेके जरिये नही हुए।

तब वे अतमे कहते है कि हम तुम्हारी रक्षा करते है। 'किससे रक्षा करते है'? 'परकीय आक्रमणसे।' लेकिन हमपर परकीयो द्वारा आक्रमण ही क्यो होता है? परकीय आक्रमणका यह भूत व्यवस्थापकोने ही खडा किया है। अगर वे हट जाय, तो वह अपने-आप गायब हो जायगा। हम अपने यहाके रक्षकोसे कहे कि आप हट जाइए। जापान, जर्मनी, इग्लैड और अमेरिकाके लोग अपने-अपने रक्षकोसे कहे कि आप हट जाइए, तो विदेशी आक्रमणके हौवेका डर नही रहेगा। किसी देशकी आम जनता दूसरे देशकी आम जनतापर हमला थोडे ही करनेवाली है? जापानके किसान हिंदुस्तानपर हमला करने थोडे ही जायगे? आज सुनते है कि अमेरिकाके सवा दो लाख आदमी यहा आये है। वे सेनामे भर्ती कर-करके यहा लाये गये है। क्योकि अमेरिकाकी रक्षाके लिए हिदुस्तान भी एक फ्रण्ट (मोर्चा) है। आज तो सारा ससार ही 'फ्रण्ट' बन रहा है। इस फ्रण्टकी भी कोई सीमा है? ज्योतिषशास्त्रके अनुसार कभी-कभी पृथ्वी भी मगलकी कक्षामे आ जाती है। तब इन दोनो ग्रहोके टकरा जानेका डर रहता है। इस दृष्टिसे तो सारा त्रिभुवन ही हमारा मोर्चा है। इसका क्या इलाज? एक ही इलाज है कि हरएक अपनी-अपनी जगह शातिपूर्वक अपना काम करता रहे और किसीसे न डरे। अपनी कक्षासे बाहर जानेकी किसीको जरूरत ही नही है। रक्षाका यही सबसे सफल उपाय है। यह रक्षाका प्रश्न एक दुष्टचक्र है। यह हौवा व्यवस्थापकोका ही खडा किया हुआ है। इस बहाने वे अपने अस्तित्वको हमपर लादनेकी कोशिश करते है। वे कहते है, तुमको दूसरोके आक्रमणसे बचानेके

लिए हमारी जरूरत है। हम कहते हैं व्यवस्थापकोका होना ही आक्रमणकी जड है।

हमारी रक्षा करनेके बहाने वे फौज रखते हैं। आक्रमण तो कभी-कभी होता है। लेकिन सेनाका उपयोग प्राय हमको दबानेके लिए किया जाता है। हम कहते हैं, 'आप हमसे अधिक बुद्धिमान है तभी तो हमारे व्यवस्थापक हुए। अगर हम आपकी बात न माने, तो हमे समझाइए। उसके लिए लश्करकी क्या जरूरत? आप हमारे मा-बाप-जैसे मार्गदर्शक हैं। अपनी बात हमपर लादनेके लिए आप लश्करकी सहायता क्यो लेते हैं? बाप अपने बच्चेको कोई बात समझाना चाहे, तो दोनोके बीचमे एक सिपाहीकी क्या जरूरत?

शिक्षक अगर लडकोसे अधिक बुद्धिमान है, तो बुद्धिहीन लडकोको अपनी बात समझानेके लिए वह क्या अपने पास एक सिपाही रक्खेगा? लेकिन होता तो ऐसा ही है। वह अपने पास एक निर्जीव सिपाही, एक छडी, रख लेता है। बुद्धिमान शिक्षकका उसके लडकोसे सबध रखनेके लिए निर्बुद्धि और निर्जीव छडीका उपयोग कैसे उपयुक्त हो सकता है? लेकिन हर एक दर्जे (क्लास)मे वह बराबर चलता है। कहा जाता है कि खानेमे अगर थोडी-सी मिर्च हो तो खाना जल्दी हजम हो जाता है। उसी तरह छडीके साथ शिक्षण दिया जाय तो जल्दी गले उतरता है। बडे आश्चर्यकी बात है कि इस तरहकी दलीले देकर शिक्षणमे छडीका और राज्यशास्त्रमे लश्करका समर्थन किया जाता है।

अगर व्यवस्थापक वर्ग बुद्धिमान है, तो समाजमे जो दूसरे दो-चार बुद्धिमान व्यक्ति होगे, उन्हे पहचाननेकी अक्ल उसमे होगी। वह उन्हे और उनके द्वारा जनताको समझानेकी कोशिश करेगा। उनकी समझमे न आवे, तो फिर समझायगा। बार-बार समझानेपर भी समझमे न आवे, तो सब्र करेगा। सब्र भी तो कोई चीज है? लोगोकी समझमे जितना आये, उतनी ही व्यवस्था करेगा।

लेकिन हमारे व्यवस्थापक तो समझानेकी कोशिश नही करते। डडोसे बाते करते हैं। इसीलिए उन्हे लश्करकी जरूरत जान पडती है। इससे स्पष्ट है कि इन व्यवस्थापकोकी व्यवस्था लोगोने कबूल नही की है। वे उसे जबरदस्ती लादना चाहते हैं। लेकिन यह खुलकर नही कह सकते। इसलिए बहाना बताते हैं कि हम उन्हे दूसरोके आक्रमणसे बचानेके लिए लश्कर रखते है।

रक्षणका यह सही उपाय नही है। सही उपाय एक ही है। वह यह कि लोग बुद्धिपूर्वक एकत्र होकर शातिपूर्वक अपना-अपना काम करे, हिल-मिलकर रहे

और व्यवस्थापकोसे कहे कि आप हट जाइए। कम-से-कम हिदुस्तानके लिए आज ही वह समय आ गया है। हमारे व्यवस्थापकोको अब फौरन हट जाना चाहिए। हमने भी व्यवस्थाके सिद्धात अनुभवसे सीखे है। हम अपनी करतूतसे उतनी अव्यवस्था नही करेगे, जितनी कि व्यवस्थापकोने की है। इतना ज्ञान तो हमे है। आपकी फौज, अदालते, टैक्स, वगैरासे हमारा काम बिगडता है। इनके अभावमे हमारा कुछ नही बिगडेगा। हमारे पास जमीन है, आस्मान है, नाक है, गला है और भगवान् है। हम अपनी व्यवस्था कर लेगे। यह साफ शब्दोमे कह देनेका मौका आज ही आया है। कम-से-कम हिदुस्तानके लिए तो आ ही गया है। दुनियाके दूसरे राष्ट्रोके लिए भी आया है। लेकिन वे जब महसूस करेगे, तब करेगे।

सवाल उठाया जाता है कि अगर अग्रेज चले जाय, तो हिंदुस्तान जापानके हमलेका मुकाबिला नही कर सकेगा। मै कहता हू, कर सकेगा। लेकिन फिर जापानका हमला होगा ही क्यो? जापान तो इग्लैडका शिष्य बन रहा है। साम्राज्यवादका गुरु तो इग्लैड है। आज ब्रिटिश लोग कहते है कि अब हम साम्राज्यवादको नही मानते। श्रीमती रूजवेल्ट कहती है कि अब साम्राज्यवादके दिन लद चुके है। क्यो भाई, क्या इसका भी पहलेसे कोई कैलेडर बना रक्खा था? क्या इग्लैडकी यह प्रतिज्ञा थी कि उन्नीस सौ बयालीसतक ही हम साम्राज्य-वादी रहेगे, बादमे साम्राज्य छोड देगे? यह विचार आज ही क्यो सूझा? मलाया और सिगापुरमे जो अनुभव हुआ उसका यह परिणाम है। मलायामे इन लोगोने देखा कि वहाके लोग कोई मदद नही करते, जापानियोसे मिल जाते है। इतने दूर-दूरके देश सम्हालना मुश्किल हो जाता है। इसलिए अब ये कहने लगे है कि अब साम्राज्यवादके दिन बीत गये है।

लेकिन जापान कहता है कि यहा भी 'मुन्रो डॉक्ट्रिन' लागू करो। मुन्रो डॉक्ट्रिनके माने है लूटनेमे स्वदेशी धर्म। जापानके लिए वह एक अच्छा सहारा हो गया है। वह कहता है, कहा मलाया और कहा इग्लैड? जावापर डच लोगोका राज्य नही होना चाहिए। लूटनेके लिए इतनी दूर नही जाना चाहिए। यही-तक इनका स्वदेशी धर्म पहुच पाया है।

इग्लैडने देख लिया कि इतने दूरके देश सम्हालना मुश्किल हो जाता है। मलायाके प्रकरणसे वह डर गया है। वह कहेगा, हम डरे नही, सावधान हो गये

है। लेकिन डर और सावधानीकी सीमा-रेखा ठहराना मुश्किल है। मलायामे जो अनुभव हुआ वही ब्रह्मदेशमे हो रहा है। हिंदुस्तानमे भी वही होनेका डर है। अब उन्हे इग्लैडकी रक्षाकी पडी है। वे समझ गये है कि हिंदुस्तानको बचानेकी शक्ति उनमे नही है। बेचारा वेवेल तो साफ-साफ कहता है कि हिंदुस्तानका किनारा इतना बडा है कि उसकी रक्षा हम नही कर सकते। हिंदुस्तानियोसे भी आशा नही कर सकते। क्योकि उनके साथ बडा दुर्व्यवहार किया है।

कोई साम्राज्य अनादि-अनत नही है। लेकिन साम्राज्यवादका यह स्वभाव है कि वह अपनी प्रतिमा, अपने ही आकार और शक्लकी विरोधी शक्ति, पैदा करके मरता है। एक साम्राज्यकी सतान दूसरा साम्राज्य होता है। उसके बाद तीसरा साम्राज्य आता है। इस प्रकार साम्राज्यवाद बहु-सतानशाली है। इग्लैडके बाद अब जापान आना चाहता है। इन दोनोकी मुठभेडमे बेचारे हिंदुस्तानका खात्मा होनेका डर है।

इसलिए अब हमे अपने व्यवस्थापकोसे ही जान छुडानी चाहिए। सिंगापुरमे यह साबित हो चुका है कि उनमे रक्षा करनेकी सामर्थ्य नही है। इतने बडे दिग्विजयी कहलाते थे। कहते थे, सिंगापुर ऐसा मजबूत गढ है कि यावच्चद्र-दिवाकरौ बना रहेगा। परीक्षित भी ऐसा जबरदस्त किला नही बना सका था। वह सात दिनतक किलेके अदर ऋषिसे ज्ञान-चर्चा करता रहा। मृत्युने उसका वहा भी पिंड नही छोडा। आप भी दुनियाकी रक्षाके ठेकेदार बनकर यावच्चद्र-दिवाकरौ अपना साम्राज्य कायम रखनेकी बाते करते थे। लेकिन परीक्षितकी तरह आपका किला भी आठ-दस रोजमे ढह गया। आपको हटना पड़ा। अग्रेजोको यह अनुभव हो गया कि दस-दस हजार मीलकी दूरीसे जनताकी मददके बिना लड़ाई नही लडी जा सकती। अग्रेज कहते आये है कि हम आखिरतक लडेंगे, हरगिज नही हटेंगे। लेकिन हागकाग और सिंगापुरमे हटना ही पडा। आखिरतक लडनेवाले थे, तो हटनेका मौका ही क्यो आया? वे कहते है कि हम आखिरतक लडेगे। शायद उनका यह मतलब है कि हम जब पीछे हटेगे तभी हटेंगे, उससे पहले नही हटेंगे। इसके सिवा दूसरा कोई मतलब मुझे तो नही नजर आता।

फिर कहने लगे कि रगूनसे हटते-हटते उस शहरमे ऐसी आग लगा दी कि चालीस मीलपरसे तमाशा देख सकते थे। रगून किसके बापका था? इतनी सपत्ति तबाह हो गई। किसका नुकसान हुआ?

क्रिप्स साहब आये। एक योजना लेकर आये। कहने लगे इसके साथ शादी कर लो। उसे हमारे पल्ले बाधकर हमे लडाईमे शामिल कराना चाहते थे। उनकी यह चाल थी कि इस तरह हिंदुस्तानका अनुमोदन मिलनेसे लडाईको नैतिक योग्यता मिल जायगी। लेकिन असली लेने-देनेकी बात उधारीकी थी। कहने लगे लेना-देना लडाईकी धूमधाममे नही हो सकता। व्यापारियोका एक नियम है—देते वक्त 'पहले लिख, पीछे दे, और लेते वक्त पहले ले, पीछे लिख।' इसी व्यापारी सूत्रसे क्रिप्स काम लेना चाहता था। लडाईके बाद जो कुछ देना है दे देगे; तबतक हम जैसे नचावे वैसे नाचो। काग्रेसको यह मजूर नही हुआ। गाधीजी फौरन ताड गये।

इसलिए गाधीजी अब लेने-देनेकी बात नही करना चाहते। वे कहते है भगवान्ने यह जमीन हमे दी है, मेहरबानी करके आप यहासे हट जाइए। तब वे वही पुराना अराजकताका सवाल उठाते है। वे तो अव्यवस्था और अराजकताका डर दिखा-दिखाकर ही सत्ता चलाते आये है। इसीके भरोसे व्यवस्थापक-वर्ग जनतापर अपना सिक्का जमाता आया है। भविष्यके बडे भयानक चित्र खीचता है। कहता है, हम चले जायगे तो हिंदुस्तानमे बडा भीषण युद्ध होगा। हमें उसका कोई डर नही है। हिंदुस्तानियोको सोचना चाहिए कि अराजकतासे हमारा और क्या नुकसान होनेवाला है? आजकी व्यवस्था ही पूरी-पूरी अव्यवस्था है। इसके मुकाबिलेमे अराजकता भी व्यवस्था ही होगी।

इसलिए व्यवस्थापक वर्गसे हमारा अनुरोध है कि आप हमारी फिक्र न कीजिए अगर आप हट जायगे, तो आप भी बचेगे और हम भी बचेगे। आप इसलिए बचेगे कि हिंदुस्तानको छोडनेसे आपकी नैतिक योग्यता बढ जायगी, साम्राज्यवाद नष्ट होगा और दुनियाका भला होगा। शायद यूरोपमे भी लडाई बद हो जायगी। और अगर न हुई, तो आप यूरोपको सम्हालिए। दूरकी चिता न कीजिए। अपनी सारी शक्ति यूरोपमे केद्रित कीजिए। कृपा करके हमारा पिंड छोडिए। हम अपने यहा ज्यादा-से-ज्यादा व्यवस्था करनेकी कोशिश कर लेगे।

बापू यही कह रहे है। उनकी योजना आगे चलकर क्या आकार लेगी, सो तो मै नही जानता। लेकिन यह महान् वस्तु है। यह सारी दुनियाके लिए लागू है। केवल उसका आरभ हिंदुस्तानसे हो रहा है। दुनियामे व्यवस्थापकोका ताता-सा लग रहा है। वह जनताके गलेमे तातके समान प्राण-घातक हो रहा

है। सारी दुनियाके व्यवस्थापक अगर अपनी-अपनी जगहसे हट जाय, तो दुनियामे शाति होगी और मानवताका कल्याण होगा।[1]

(सर्वोदय जून, १६४२)

: १६ :

हमारी जीवन-दृष्टि

सत्याग्रह-आश्रम, साबरमतीके सेक्रेटरी श्री छगनलालजी जोशीने मुझे एक पत्रमे लिखा कि 'तुम्हारे ये जो दो श्लोक[2] है वे मुझे बहुत पसद आये और मैंने उन्हे अपनी प्रार्थनामे शामिल किया है।' वे श्लोक मराठीमे है क्योकि उन्हे लिखते समय मुझे उनके प्रचारकी कल्पना नही थी। मैंने वे सिर्फ अपने लिए लिखे थे। इसके सिवा मुझे गुजराती या हिंदी, इतनी—कि जिसमे काव्य-रचना अथवा पद्य-रचना की जा सके—आती ही कहा है? उन्हे लिखकर बहुत दिनोतक मैं स्वय उनका केवल चितन ही करता था। फिर उन्हे मैंने दोनो समयकी प्रार्थनामे शामिल किया। तत्पश्चात् कन्याश्रमकी एक लडकीने वे दोनो श्लोक अपनी जरूरत बतलाकर मुझसे लिये। तब वे वहा प्रार्थनामे शामिल हुए। फिर उनका सब जगह प्रचार हुआ। इस सारी प्रस्तावनाका कारण यह है कि मुझे जो कुछ कहना है उससे मैं इसका सबध बतलाना चाहता हू।

ये दोनो श्लोक हमारी विचारसरणिको प्रकट करनेवाले है। हमारी विचार-सरणि यह है कि सपूर्ण जीवन उपासनामय है। यह विचार नया नही है, प्राचीन ग्रथोंमे भी पाया जाता है। और मुझे तो अपने विचारोको प्राचीनका जितना

---

[1] वर्धामें राष्ट्रीय युवक संघ, काग्रेस सैनिक दल और प्रातीय नगर सरक्षक दलके समक्ष (२५ मई, १६४२को) दिया गया भाषण।

[2] अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असग्रह।
शरीर-श्रम अस्वाद सर्वत्र भयवर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी स्पर्शभावना।
ही एकादश सेवावीं नम्रत्वे व्रतनिश्चये॥

आधार मिले उतना दिखानेकी आदत होनेके कारण इसे कोई नया कहे या यह कहे कि इसे प्राचीनताका आधार नही है तो मै उस कथनको बिलकुल ही नही मान सकता। उक्त विचार मुझे पीछे ठेठ वेदोतक दिखाई देता है। उपनिषदोमे तो है ही, किंतु गीतामे वह बिलकुल स्पष्ट दिखाई देता है। इसीलिए तो उसे मैंने "गीता मैया" कहा है। मनुष्यका इस दुनियामे अधिक-से-अधिक प्रेम और हृदयका नाता दिखानेवाले शब्दका मैंने गीताके लिए उपयोग किया है।

यद्यपि जीवन समूचा ही उपासनामय है यह विचार प्राचीन ग्रथोमे होनेपर भी मध्य युगमे इसमे फर्क पड गया ऐसा जान पडता है। कारण, मध्यकालमे यह विचारसरणि हो गई थी कि कर्म बधनकारक है, इतना ही नही बल्कि मारक भी है। कर्मका जितना त्याग किया जा सके उतना करो, केवल भिक्षादिक, जो बिलकुल ही आवश्यक हो, उतना ही करो, इत्यादि बाते थी। भगवान्ने गीतामे बतलाया है कि कर्मोमे बधन जरूर है और कर्म करने है तो उनमेसे कुछ त्यागने भी पडेगे। परतु उस मध्यकालमे उस विचारकी मर्यादा ध्यानमे नही रक्खी गई, कर्मके सबधमे गलत कल्पना बन गई। मध्ययुगके किसी साधारण अच्छे सतकी भावना-की जाच की जाय तो यह पाया जायगा कि वह कपडे सीयेगा, खेती करेगा, पर उसके पीछे विचारधारा यह दिखाई देती है कि यह सब पेटके लिए करता हू, न करू तो दूसरोपर बोझ पडता है, जो पडना उचित नही है। पर यह अधिक बुरा खयाल है। वही भगवतसेवा है यह नही समझा जाता था। भावना सारी यह थी कि जो कुछ भजन, पूजन, जप किया जाता है वह तो हरि-सेवा है, और दिनमे किया हुआ काम केवल पेटके लिए है। नतीजा इसका यह हुआ कि दिनमे, व्यवहार-मे कुछ अनुचित किया हुआ भी जायज समझा जाता है। शामको या सबेरे पूजा-पाठ कर लिया, तो बस काफी है। सबेरेके रामपहरमे झूठ मत बोलो, दूसरे वक्त बोलनेमे हर्ज नही, इत्यादि कल्पनाए लोगोमे रूढ हो गई।

भक्ति-मार्गके भागवत, तुलसी-रामायण, तुकारामगाथा, ज्ञानेश्वरी इत्यादि ग्रथ बहुत ऊचे है। मुझपर उसका बडा असर पडता है। कभी किसी समय हृदय बिलकुल खिन्न हुआ अथवा मन उत्साहरहित हो गया—मुझे ऐसी स्थिति प्राय बहुत कम आती है—तो उस समय तुकारामका कोई अभग, अथवा ज्ञानेश्वरी-की चार ओविया अथवा रामायणकी चार चौपाइया पढी कि मन प्रसन्न हो जाता है। इतना उनका मुझपर असर होता है। तथापि मुझे ऐसा जान पडता है कि

उन ग्रथोको पचाकर हमे समाजको नया दूध तैयार करके देना चाहिए। जैसे गाय चरी, (कडवी) खाकर दूध देती है, वैसे ही हमे गायका काम स्वीकार करके उपर्युक्त चरी—जो चरी ही की तरह पौष्टिक और मीठी है—खाकर दूध तैयार कर देना चाहिए। क्योंकि वैसा न किया जायगा तो भक्तिके साथ बहुत-सी न पचनेवाली या हमे न रुचनेवाली चीजे भी आ जायगी, जो किसी तरह भी हमे सहेगी नही। उसके लिए हमे नये ग्रथ भी लिखने होगे। मुझे जब ऐसा लगा तभी मैंने गीताई[1] की रचनाका प्रयत्न किया और तत्त्व-ज्ञानके विषयमे अभी कुछ लिखनेका विचार है। वह शायद पूरा हो, सभव न भी हो।

आचरणके बिना भक्ति झूठी है, वह व्यर्थ हो जाती है। आज हालत यह है कि ऊपर 'श्री हरि' लिखकर नीचे जमाखर्चकी वहीमे ५०) देकर १००)के कागजपर सही कराने जैसे जमाखर्च करनेमे लोगोको कोई अटपटापन नही मालूम होता। अत भक्तिके साथ आचरण की आवश्यकता है।

आजके भक्त अथवा साधुके नियममे कल्पना यह है कि वह कम खानेवाला और काम भी कम ही करनेवाला होना चाहिए। साधुको ज्यादा काम करना ही नही चाहिए। कोई साधु अगर बर्तन माजने लगा तो लोग कहते है कि साधुको बर्तन माजनेसे क्या सरोकार! हमे समूचा जीवन भक्तिमय, उपासनामय करना पड़ेगा। हमारे ये व्रत मेरे मनसे आजतकके हिंदू-धर्मका दूध है। इसके आगेके सौ वर्षोंमे उसका मक्खन नही होगा सो नही है। होगा भी अथवा जैसे उन पुराने ग्रथोमे—विचारोमे गदगी घुस गई है, वैसे ही इसमे भी घुस आई तो अगली पीढी उसे निकालेगी भी। पर आज हमे उसकी फिक्र करनेकी जरूरत नही है। आज तो हम उन व्रतोको भक्तिपूर्वक अमलमे लावे, समूचे जीवनको उपासनामय बनावे, जो-जो व्यवहार हम करे, फिर चाहे वह बाजारका काम हो या रसोई बनानेका अथवा चक्की पीसनेका, सबको भगवत-सेवा समझकर करे तो हमारा काम खतम हुआ। यह हमारा ध्येय होना चाहिए।

---

[1] गीताका मराठी समश्लोकी अनुवाद।

: २० :

विविध विचार

१—सामूहिक प्रार्थना

व्यक्ति और समूहकी उन्नतिमे कोई भेद नही। जबतक सामूहिक उन्नति नही होती, तबतक व्यक्तिगत उन्नति भी सभव नही। जिस प्रकार एक साफ-सुथरे घरके चारो ओर प्लेग फैल जाय, तो वह साफ-सुथरा घर भी अछूता नही रह सकता, उसी प्रकार वायु-मडल दूषित होनेपर कोई व्यक्ति उस दोषसे बचा नही रह सकता। अत प्रार्थना व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होनी चाहिए। हमारा वैदिक धर्म भी सामूहिक प्रार्थनाके आधारपर अवलवित है। गायत्री मत्रमे प्रार्थना की गई है कि हम सब सवितादेवकी प्रार्थना करते है, वे हमारी बुद्धिको शुद्ध करे। यह सामूहिक प्रार्थना है, न कि व्यक्तिगत, क्योकि ऐसा नही है कि, मै प्रार्थना करता हू और मेरी बुद्धि शुद्ध करे।

हमारी प्रार्थना तो सामूहिक होनी ही चाहिए और उसमे स्त्रिया और बालक-बालिकाओको भी सम्मिलित होना चाहिए। प्राय देखा जाता है कि प्रार्थनामे स्त्रिया सम्मिलित नही होती। एक गावमे मैने देखा कि प्रार्थनामे बहुत-से लोग एकत्र हुए थे, किंतु स्त्री एक भी नही थी। कारण पूछनेपर मालूम हुआ कि केवल एक बाई है, जो प्रार्थनामे आना चाहती है, किंतु अकेली आना उसे पसद नही। प्रार्थनामे स्त्रियोको भी सम्मिलित होना चाहिए। लोग उन्हे शृगारकी वस्तु समझकर छोड देते है। किंतु यह मानना भूल है। सपूर्ण गावके, या किसी सस्थाके, या एक विचारके, या एक परिवारके सभी व्यक्तियोको मिलकर प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थनाका स्थान भी निश्चित कर लेना चाहिए। सामूहिक प्रार्थनाका आयोजन हरिजन-सघ, हरिजन-छात्रावास या ऐसे ही अन्य सार्वजनिक स्थानोपर करना चाहिए, जिससे उसमे हरिजन तथा अन्य लोग अधिक सख्यामे सम्मिलित हो सके। प्रार्थना प्रारभ करनेके पूर्व घटा या शखकी ध्वनि हो जानी चाहिए, जिसे सुनकर आसपासके लोग प्रार्थनाके लिए समयपर एकत्र हो जाय।

(हरिजन सेवकसे)

२—संतोंका बाना

जगत् ही जो ठहरा; लोग चटसे कह गुजरते है, कि तलवारसे तो तलवार लेकर ही लडा जा सकता है। उसके विना काम नही चलता। किंतु यह उनकी वाणी है, जिनके पास तलवार नही है। कितनी ही बार जो वस्तु हमारे पास नही होती, हम उसकी वाजार दर वढा दिया करते हैं। हमारी दशा भी वैसी ही है। हमारे मनमे तलवार क्यो है ? इसलिए कि वह हमारे म्यानमे नही है। यदि म्यानमे तलवार होती तो मनमे उसके लिए मोह क्यो होनेवाला था ?

मोह न हुआ होता, और वह इसलिए, कि सच्ची बात हमारी समझमे आ गई होती। यदि हमारे तलवार-वहादुर पूर्वज हमारे मुहसे यह सुन लेते, कि तलवारसे तलवार लेकर लडा जा सकता है, तो उनकी हसी रोके न रुकती। इसलिए कि उन्हे लडाईका अनुभव था। उन्हे मालूम था कि लडा 'ऐसे' जाता है। उन्होने हमे स्वाभाविक समझा दिया होता कि 'बावा, तलवारसे ढाल लेकर लडा जाता है।' जिस समय लोग 'त' कहनेसे तलवार समझ जाते थे, उस समय लोगोको लडनेकी यह कला मालूम थी। अव तो हम 'त' कहनेसे 'तदुल-मट्ठा' समझते है, तब हमारे गलेमे यह वात कैसे उतरे ?

हम कहते है, जैसेको तैसा होना चाहिए। मगर हम मतलव समझा ही कहा करते है ? जैसेको तैसेका अर्थ तो इतना ही है कि जितनी पैनी हमारे दुश्मनकी तलवार हो उतनी ही सख्त हमारी ढाल हो। तव तलवारसे तलवार लेकर लडनेकी वातको, जैसेको तैसा कहे, तो यह क्या हमारी मदवुद्धिका द्योतक नही है ? तलवारसे तो ढाल ही लेकर लडा जा सकता है, पर ढालके सहन करनेकी शक्ति तलवारकी प्रहारक शक्तिमे हार खानेवाली नही होनी चाहिए। शत्रुके प्रश्नोमे यदि पाच सेर क्रोधके अगारे भरे हो, तो हमारे पास भी पाच सेरसे कम प्रेमका पानी न होना चाहिए। शिक्षक अपने वालकोके अज्ञानसे लडता है। यदि वह जैसेको तैसाका मनमाना तत्त्व-ज्ञान ग्रहण कर ले, और वच्चोसे कहने लगे कि "तुम्हारी समझमे यह जरा-सी वात नही आती, तो मेरी समझमे क्यो आनी चाहिए ? और यदि तुम मेरे प्रश्नोका उत्तर नही देते, तो मै फिर तुम्हारे

प्रश्नोका उत्तर क्यो दू ? तुम अगर अज्ञानका बोझ ढो रहे हो, तो मै ही अकेला ज्ञानका बोझ क्यो ढोऊ ?" तो इसका उत्तर यही है कि बच्चे अज्ञानका बोझ ढो रहे है इसीलिए तुम्हे ज्ञानका बोझ ढोनेकी खास आवश्यकता है। अज्ञानसे ज्ञान लेकर ही लडा जा सकता है। जैसेको तैसेका अर्थ यहा केवल इतना ही है, कि तोडसे जोड मिलनी चाहिए। हमारे सामनेके आदमीका अज्ञान जितना गहरा हो हमारा ज्ञान भी उतना ही गभीर होना चाहिए। यही कारण है कि ज्ञानकी मापपर जीनेवाले देशोमे अज्ञानी-से-अज्ञानी बालकोकी श्रेणीको पढानेके लिए उच्च-से-उच्च ज्ञानवाले शिक्षक रक्खे जाते है। पुराण-कालके युद्धोमे भी तो एक बात सुनी जाती है। यदि एक मेघके अस्त्र फेकता था, तो दूसरा उसके बदले मेघके अस्त्र नही फेकता था, वह तो वायुके अस्त्र फेकता था। बादलोकी चढाईमे बादल ही भेजे कि बादलोपर बादलका वर्ग हुआ और हुआ गहरा अधकार। और वायु भेजी कि एक-एक करके बादल तितर-बितर। अज्ञानके मस्तकपर अज्ञानके ही कीले ठोकनेसे फायदा ? अज्ञानको तो ज्ञानसे दूर करना चाहिए।

जिसे व्यवहारकी थोडी-सी भी जानकारी है, उसे इस बातके समझनेमे कुछ भी अडचेन नही पडनी चाहिए। अगारे बुझाने हो तो पानी डालना चाहिए। अधेरा हटाना हो तो दिया जलाना चाहिए। यह वैध विरोध किसकी समझमें नही आता ? और यदि ये बाते समझमे आती है, तो सतोकी यह वाणी क्यो समझमें नही आती, कि क्रोधको प्रेमसे जीतना चाहिए, बुराईको भलाईसे जीतना चाहिए, कजूसपनेको दरियादिलीसे जीतना चाहिए, खोटेको खरेपनसे जीतना चाहिए ? ये सब भी व्यवहारकी बाते है। हमारी समझमे तो तब आवे, जब हम विचार करे। हम अपने ही मनमे अगर खोज करे, तो हमे सब बातोका पता चल जाय।

(ह० से०, २ जून १९३४)

३—निष्ठाकी कमी

गाधी-युगके साहित्यकी हलचलमे अनेक गुण है, पर एक दोष भी है। जितने उत्साहसे, प्रेमसे, निष्ठासे मध्य युगमे सत प्रचार करते थे, मुझे नही दीखता, कि हम उसी निष्ठासे विचार-प्रचारका कार्य कर रहे है। जबरदस्तीसे, रिश्वतसे, अहकारसे, उत्साहके अतिरेकसे और जल्दबाजीसे मिश्नरीकी तरह एकागी,

अंधवृत्तिकी तरह आप विचार-प्रचारका कार्य करे, ऐसी बात मै नही कहता। वह बुरी है, परतु निष्ठावत सत, गाव-गावमे जाकर हरि-नाम-ध्वनिकी गूज मचा देते थे, वह हम नही करते। वैसा निष्ठावत प्रचार वर्त्तमान हलचलमे नही है। ये बाते मुझपर भी लागू होती है। सतोका-सा उत्साह आज चाहिए। आजकी हलचलमे योग्यताकी कमी नही। उद्धारका जो कार्य सतोने किया उसी कार्यको आगे खीचा जा रहा है। परतु सतोमे जो निष्ठा थी वह असीम थी—वह उनमे समाती न थी—वह फूटकर बाहर फैलती थी। उस तीव्रताकी, उस वेगकी निष्ठा आज नही मिलती। पानी कही-न-कही रुक गया है। बरसता है, पर बह नही रहा—वह फलता नही, जलाशय नही बनाता, प्रवाहित नही होता, खेती हरी-भरी नही होती।

नारद तीनो लोकमे फिरता। वह नीचे दरजेके लोगोमे घूमता, मध्यम श्रेणीके लोगोके बीच जाता, उच्च श्रेणीके लोगोतक पहुचता, यही तो लोक-समुदाय है। एक मित्रने मुझसे कहा कि आजके समाचार-पत्र नारद हुए। परतु ये नारद, नारद न हुए के बराबर है। इसमे पैसे देनेकी व्याधि है, समझ लेनेकी उपाधि है। परतु देवर्षि घर-घर अपने-आप जाता, मधुर वाणीमे अपने विचार लोगोंके गले उतारता और फिर उन्हीका आभार मानता। जो विचार सुनते, उन्हीका वह उपकार मानता। नारदको मालूम होता कि उसे आज भगवद्दर्शन हुए। आज देवर्षिका वही काम ठीक-ठीक नही हो रहा है। हो कैसे, हमारे हृदयमे वह प्रतिबिंबित ही नही। खादी, अस्पृश्यता-निवारण और राष्ट्रीय विचार, सबके प्रचारके लिए व्यक्ति चाहिए, किंतु इन विचारोका तत्त्वज्ञान ही हमारे पास काफी नही—हमारी जानकारी ही पूरी नही। जानकारी न होना अज्ञान है, किंतु जानकारीकी प्राप्तिमे लापरवाह रहना दोष है। बापूने अभी एक छोटा-सा लेख लिखा था। उस लेखका आशय था कि हिटलर भी जर्मनीमे यत्रोके महत्त्वको कम कर रहा है और मध्य युगके समान ही वर्तमान युगमे वह घरू उद्योग-धधोंको प्रोत्साहन दे रहा है। मैने एक भले कार्यकर्त्तासे पूछा "आपने वह लेख पढा है?" उन्होंने उत्तर दिया, 'नही'। कितनी ही बार ज्ञानको सम्मुख पाकर हम कह देते है "नया क्या होगा!" यह कल्पना ही घातक है। महाभारतके 'वन-पर्व'में एक ऋषि धर्मराजके पास आये। धर्मराज वनमे दुख भोगते थे। धर्म, दुखकी घडियोकी उस कहानीको पाते रहते, किंतु करुणामय ऋषिको पाकर धर्म का दुख

वाणीके द्वारसे बह निकलता। वह कहते—"ऐसे दु ख किसीने न भोगे होगे।" ऋषि कहते "राम और सीताको भी ऐसा ही वनवास भोगना पडा था।" धर्म कहते, "जरा वह रामकी कथा तो कहिए।" यदि इन बातोपरसे कोई कहे कि धर्मको रामकी कथा मालूम न थी, तो उस व्यक्तिकी इसे अज्ञान-सीमा ही समझनी चाहिए। धर्मको दीखता कि ऋषिके मुखसे पुन रामकी उज्ज्वल कथा सुननी चाहिए। पानी वही है, परतु जो 'गोमुख'मे आया, कि अधिक पवित्र हुआ।

(ह० से०, ३० मार्च १९३४)

४—सेवकका पाथेय

वर्धाका ग्राम-सेवा-मडल, वर्धा तहसीलमे ग्राम-सेवाके कार्यका छोटे पैमानेपर एक व्यवस्थित प्रयोग कर रहा है। इस सस्थाकी ओरसे वर्धा तहसीलके १२ गावोमे काम हो रहा है। इस वर्षकी अपनी वार्षिक बैठकमे उसने काफी वाद-विवादके बाद नीचे लिखा एक प्रस्ताव स्वीकार किया—

"ग्राम-सेवा-मडलकी ओरसे देहातमे काम करनेवाला प्रत्येक मनुष्य (१) प्रतिदिन कम-से-कम आठ घटे शारीरिक श्रम करनेवाला और प्रतिदिन चार आनेमे अपना जीवन-निर्वाह करनेकी तैयारी रखनेवाला होना चाहिए, और (२) किसी भी परिस्थितिमे, कहीसे भी सपरिवार पूरा काम करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके आठ आना प्रतिदिनसे अधिककी अपेक्षा न रखनेवाला होना चाहिए।

१ नवबर, १९३५से एक वर्षतक जो ग्राम-सेवक चर्खासघके भावसे सूत कातकर जितनी मजदूरी कमायेगा, उतनी ही अतिरिक्त मदद और लेनेका उसे अधिकार रहेगा।"

मुझसे यह कहा गया है कि इस प्रस्तावपर मै अपना भाष्य लिखू। प्रस्तावका स्वरूप इतना क्रातिकारक है कि लोगोके लिए उसके भाष्यकी अपेक्षा रखना स्वाभाविक है। इसका भाष्य यदि हुआ, तो वास्तविक व्यवहार द्वारा होगा, शब्दो द्वारा नही। तथापि साहित्यके ऋणसे उऋण होना भी आवश्यक है, अत नीचे थोडेमे कुछ लिखता हू।

प्रस्तावके पूर्वार्द्धमे शारीरिक श्रम और ऐच्छिक गरीबीका तत्त्व स्वीकारा गया है। एक-न-एक कारण खडा करके अबतक हम शारीरिक श्रमसे बचनेका

प्रयत्न करते रहे है। ससारमे फैली हुई विषमता, ऊच-नीचके विचार, गुलामी और हिंसा, ये सब विशेषकर उस आर्थिक पापके परिणाम हैं, जो शारीरिक श्रमसे बचनेके प्रयत्नमे हम अबतक करते आये है। बच्चे और बूढे शारीरिक श्रम न करे, विद्यार्थी और अध्यापक शारीरिक श्रम न करे, जो रोगी और असमर्थ है वे तो कदापि न करे, निरुद्योगी और उच्चोद्योगी भी न करे, सन्यासी और देशभक्त भी न करे, विचारक, प्रचारक और व्यवस्थापक भी शारीरिक श्रम न करे, तो आखिर करे कौन! वे, जो अज्ञान है और पीडित है? प्रस्तावके पूर्वार्द्धमे इसी वस्तुका परिचय कराते हुए यह कहा गया है कि जबतक हम इस भयकर स्थितिसे अपना पिंड न छुडा लेगे, तबतक दूसरी कोई भी स्थापना, सिद्धात, वाद, व्यवस्था, और रचनासे हमारा निस्तार न होगा। मनुके शब्दोमे यह अर्थ-शुचित्वका एक प्रयत्न है।

प्रस्तावके उत्तरार्द्धको 'काम-शुचित्वका प्रयत्न' कहा जा सकता है। स्त्रियो-को अपनी भोग्य सामग्री समझकर एक ओर उनसे अपनी पूरी व्यक्तिगत सेवा करवाना और दूसरी ओर उन्हे अपना भार समझकर उस भारको समाज-सेवापर लादना, एक ऐसी वृत्ति है, जिसमे सेवाका केवल नाम-मात्र रह जाता है। इसके कारण स्त्रियोकी अद्भुत शक्तिको कोई अवकाश नही मिलता और समाज-सेवाका कार्य एकागी और महगा होता जाता है। यदि कुटुब अथवा परिवारकी व्याख्यामे कुटुबको समाज-सेवाके लिए सगठित एक सहज, स्वयभू पूर्ण एव सहायक मडल मान लिया जाय, तो कुटुब समाजके लिए भार-रूप न रह जाय, उलटे समाज-का उपकारक बन जाय।

अर्थ-शुचित्व और काम-शुचित्व दोनो सेवा-धर्मके सच्चे साधन है और साध्य भी यही है।

जो लोग इस गरीब और पीडित देशकी सेवा उत्कट लगनके साथ करना चाहते है, वे यदि इस मर्मको समझ ले कि अर्थ-शुचित्व और काम-शुचित्वके बिना वास्तविक सेवा हो ही नही सकती, तो मुझे आशा है कि दोनो तत्त्वोकी सिद्धिके लिए—फिर ये कितने ही कठिन क्यो न प्रतीत हो—प्रयत्न करनेमे अपनी ओरसे बात उठा न रक्खेगे।

प्रस्तावका अतिम भाग उन सेवकोकी अतिरिक्त सहायताके लिए है, जो ग्रामसेवाके क्षेत्रमे प्रवेश किया चाहते है या नये-नये प्रविष्ट हुए है। महाराष्ट्र-

चर्खा-सघने प्रेमपूर्वक, साहसपूर्वक और सकोचपूर्वक कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि जिससे कातनेवालोको बढी हुई मजदूरीके रूपमे ६ घटे काम करनेपर ३ आने मिलेगे। यह मजदूरी पर्याप्त तो नही है। अपने पिछले ४॥ महीनोकी कताईके लगातार अनुभवपरसे मै कह सकता हू कि इस बढी हुई दरके अनुसार भी ६ घटेमे ३ आने कमाना साधारणत कठिन ही होगा। अपने इस कथनकी पुष्टिके विवरणमे मै यहा नही उतरूगा, यद्यपि विवरण मेरे पास तैयार है। किंतु इस स्थितिमे भी सेवकोको तो उसी तरहका जीवन बिताना चाहिए, जिस तरहका जीवन देशकी गरीब और अनाथ स्त्रिया आज बिता रही है। तथापि जबतक सेवाकार्यका रहस्य अपने-आप स्वय स्फूर्तिसे प्रकट न होने लगे, तबतक सेवाके सशोधन और चिंतनके लिए प्राथमिक अवस्थामे सेवकको सेवा-कार्यके अतिरिक्त थोडी फुरसत मिलनी चाहिए। इस अतिरिक्त सहायताका यही हेतु है। आगे तो जब सेवक स्वय चिंतनमे मग्न रहने लगेगा, तो सत तुकारामके शब्दोमे वह भी यह गुनगुनाने लगेगा कि **"चिंतनासी न लगे वेळ। सर्वकाळ करावें।"**

(ह० से०, २१ दिसबर १९३५)

५—तकलीकी उपासना

स्नान और प्रार्थनाके पश्चात् तकली-उपासना। रोज आध घटे मौन धारण करके तकली चलानी चाहिए। कल तकली कातते हुए पूछा गया कि यहा कितने लोग तकली चलाते है? उत्तर मिला—दो सौ। मुझे आकडे नही चाहिए थे। मैने तो सहज ही पूछा था। यह तो गगोत्रीका प्रवाह है। प्रारभमे अत्यत छोटा दीखता है पर आगे इतना प्रचड हो जाता है कि माप-जोखकी सुविधा ही नही रह जाती। उसमे केवल डुबकी ही लगानी होती है। तकली बिलकुल छोटी दीखती है, परतु उसकी शक्ति अनत है। वह चाहे जहा पहुच सकती है। घरमे वह और हाथमे भी वह, माता-जैसी ही कहो न! तुम कैसे ही उसे रक्खो, वह कभी कोई शिकायत नही करने की? गुम हो जाय तो उसके गुमनेकी शिकायत नही। यदि हम उसकी परवाह करे तो उसमे इतनी शक्ति है जितनी और किसी यत्रमे नही। तकली हमारी हलचलका, हमारे आदोलनका राम नाम है। कहते है कि मोक्ष वेदोपर खडा है। तब जिनकी पहुच वेदोतक नही वे मोक्षतक क्यो पहु-

चने लगें ? उस समय संतोने राम-नामका प्रचार किया। दो अक्षरोका शब्द, पर उसमे कैसी शक्ति ! घर-घर नामका प्रचार हुआ और भक्ति-भावकी बाढ़ आने लगी। हनुमान्‌की एक बात कहते है। वह कूदकर लकापर चढ गये, पर देखा तो उतरनेके लिए जगह नही ! रातभर हवामे भटकते रहे। सारी लका राक्षसोकी। वहा जगह कहा मिलनेको थी ? इतनेमे भटकते-भटकते एक मकानमेसे राम नामका स्वर सुन पडा। सुनते ही कितना आनद हुआ हनुमानको। ताली बजाकर नाच उठे और पुकार उठे—'मिल गई, मिल गई, मेरे अधिकारकी जगह।' यही जगह मिली, इसीलिए हनुमान आगेका पराक्रम दिखा सके, नही तो सारी छलागे व्यर्थ जा रही थी।

तकली, देश-सेवाके पथिकको ऐसी ही अधिकारकी जगह है। जिस घरमें वह दीख पडे वहा नि.शक प्रवेश कर जाओ और चना-चवेनामे साथ हो जाओ। वहा प्रवेश किया कि तुम्हे दीख पडेगा कि तुम चक्कर काटकर अपने ही घरमे आ गये। सख्या चाहे जितनी छोटी हो किंतु यदि उसका गुणक बडा हुआ तो गुणाकार बड़ा हो ही जाता है। तकली छोटी-सी है किंतु वह करोडोके गुणक बननेके लिए सुलभ है। यह उसका सामर्थ्य है।

आज तो तकलीके पीछे एक मत्र भी बन गया है। मत्रके मानी साहित्यिकोकी बकझक नही है। मत्रके मानी है तपश्चर्याके पेटमे निवास करनेवाली मूल वस्तु। तकलीके लिए अनेकोंने खूब तपश्चर्या की। बेलगाव जेलमे काका (कालेलकर) साहेबने तकलीके लिए ग्यारह उपवास किये। यरवदा जेलमे कोमलवयके दाडेकरने बाईस उपवास किये। मेरे भाईने पेटका आपरेशन होनेपर भी पडे-पडे तकलीपर १६० तारोकी एक लट्टी कातनेका नियम टूटने नही दिया। बापूका बाया हाथ प्राय निरुपयोगी हो गया है तब भी तरुण विद्यार्थीको लज्जित करनेवाले उत्साहसे वे अपने बाये हाथसे यह प्रयत्न करते रहते है कि आधे घटेमे तकलीकी एक अमुक गति होनी चाहिए।

मनुष्य प्राणीको अर्द्धहत्याकी आदत लग गई है। जानवरोको मारना आरभ करके हमने आधी सृष्टि मार डाली, अस्पृश्यादि जातिया निर्माण करके आधी मनुष्य जाति मार डाली, स्त्रियोको पुरुषोसे अलग करके कुटुंबोको आधा निरुपयोगी कर दिया और बाए और दाएका भेद करके हमने अपना आधा अग मार डाला। अर्जुनको यह बात सहन नही हुई थी। उसका प्रण था कि यदि मुझे दोनो हाथोंसे

धनुष चलाना न आया तो मै धनुर्धारी कैसा ? गीतामे भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि "निमित्त मात्र" हो। परतु उसके साथ 'सव्यसाचिन्'का विशेषण लगाया है। निमित्त मात्र हीके मानी हैं कि दोनो हाथोसे काम करे। प्रभुके हाथका शस्त्र बन रहना साधारण बात नही है। जो अपनी सपूर्ण शक्तिका उपयोग करेगा वही प्रभुके हाथका शस्त्र बन सकेगा। वह मुरली, अपना अहभाव ही भूल गई। जली, बदनके आरपार छेद हो गये, उसी दिन प्रभुका चुबन नसीब हुआ। सौ फीसदी काम करनेका व्रत लेनेवाले ही सच्चे निरहकारी है। कम काम करके प्रभुकी सहायता मागनेवाले अब अहकारी हैं।

(ह० से०, ११ मई १८३५)

६—तिल-गुड़ लो, मीठा बोलो

गत वर्ष ता० २५ दिसबरको, अर्थात् महात्मा ईसाकी पुण्यतिथिको, मैं यहा आकर प्रस्थापित हुआ। मेरे मन इस वर्ष भरमे मैं कुछ भी नही कर पाया। हमने हजारो वर्षोतक हरिजनोपर जो जुल्म किये है, वे यदि तराजूके एक पलडेपर रक्खे जावे, और दूसरे पलडेपर हमारी सेवा रक्खी जाय, तो वह 'शून्य'के बराबर ही रहेगी।

हम स्वय कायर, शूद्र, असमर्थ और अत्याचारी है। हमे तो अभी अपना कार्य प्रारभ करना है। इसीलिए आज सक्रातिका त्यौहार मनाया जा रहा है। "तिल-गुड लो और मीठा बोलो।" मीठा बोलना कम-से-कम है, जो मनुष्य कर सकता है। कुछ न दे, परतु मीठा तो प्रत्येकको बोलना ही चाहिए। मैंने भी मीठा बोलनेके सिवा वर्षभर कुछ नही किया। मुझसे पहलेसे, लगभग ५० वर्षसे, महात्माजीने हमे क्या सिखाया ? हमे मीठा बोलना सिखाया। 'हरिजन'के मीठे नामका शोध लगानेसे ही, उन्होने अपनी मीठी वाणीका प्रारभ किया। मेरी यह श्रद्धा है कि मत्रसे साप उतर जाता है। 'हरिजन' शब्दमे गुथे हुए मत्रने परिस्थितिमे कितना अतर पैदा कर दिया! सब प्रातोसे पिछडा हुआ मद्रास, जहा अछूतको २८ फीट दूर खडा किया जाता है, और जहा उसकी छायासे भी छूत मानी जाती है, वहा भी इस महामत्रकी मिठासका प्रभाव दीख पडता है।

जिस देशके पुरुष इतने पीछे हो, वहाकी स्त्रिया कितनी पिछड़ी होगी ? परतु जब गुरुवायूरके मदिरके द्वार अछूतोके लिए खुले रहनेके विषयमे मत लिये गये, तब १००० स्त्रियोने मत दिया कि वह मदिर हरिजनोके लिए खोल दिया जाय। यही तो मत्रका प्रभाव है।

जब हम हृदयसे मीठा बोलना सीखने लगते है, तब हमारा व्यवहार भी मीठा होने लगता है। इसी तरह मैने अभी कुछ भी नही किया, मेरी सेवाका अभी श्रीगणेश भी नही हुआ, तो भी मै तुम्हे यह विश्वास दिलाता हू कि मेरा तुमपर प्रेम है। मैने भेद-भाव नही रक्खा। मेरी मा, यद्यपि पुराने जमानेकी थी, परतु उन्हे अस्पृश्यता रुचती न थी। मेरा जन्म असल ब्राह्मण-परिवारमे हुआ है। आज ब्राह्मण होना पापरूप हो गया है। तो भी मुझे शर्म नही मालूम होती। राम तो सब ओर रम रहा है। भेद-भावका अभाव, यह मेरी कमाई नही है। यह तो मा 'गीता'का प्रसाद है। आज भी मुझे, 'काली कमली ओढे और लगोटी लगाये हुए, ईटपर, महारूपमे खडा हुआ नारायण' दीख पडता है। यही क्यों, जब गावके छोटे-छोटे हरिजन बालक, मेरी कुटियाके पास आकर ऊधम करते है, गडबड मचाते है, तब मुझे ऐसा मालूम होता है, कि स्वय भगवान् विट्ठल आकर मेरे साथ छेडछाड कर रहा है। उन बालक-बालिकाओमे मुझे प्रत्यक्ष नारायण दीख पडता है। मै तुम्हे यह कैसे बताऊं, कि तुम मुझे कितने प्यारे हो।

(ह० से०, फरवरी १९३५)

७—हमारी मूर्ति-पूजा

जो सब ओरसे तुच्छ माना जाता है, जिसके न स्थान होता है न सम्मान, जिसकी अवहेलना, जिसका तिरस्कार दुनिया करती है उसे भगवान् अपने हाथो लेता है। उसे वानर चाहिए, ग्वाले चाहिए, निरभिमानी मावले चाहिए। परन्तु अब आप मावले नही रहे। हम बड़े है, महाशय है। ईश्वरको यह नही चाहिए। जिन्हे गालिया मिल रही है, जो परित्यक्त है, ऐसे चुने हुए लोगोको लेकर भगवान् अपना काम कर लेगा। यदि हम चाहते हो, कि प्रभुका कार्य हमारे हाथों हो, तो—

करि मस्तक ठगणा। लागे सतांचा चरणा ॥

यानी, "मस्तक नीचा करो, इतना नीचा कि वह सतोके चरणोपर जा लगे।" यह हमे सीख लेना चाहिए। जो वर्षा हो रही है, उसे रोकनेके बजाय उसका उपयोग करना चाहिए।

कई बार मेरे मनमे आया है कि मै गावोमे घूमता फिरू। जेलसे छूटते समय भी यही विचार था। परतु आज तो परिस्थिति ही भिन्न है। मुझे उसका भी दुख नही। जो स्थिति प्राप्त होती है, उसमे मेरे आनदका निवास होता है। मेरे पैरोको गति कब मिलेगी, कह नही सकता। एक बार गति मिली कि वह ठहरेगी, ऐसा भी नही दीखता।

गावोमे हमारे व्यक्ति घूमते रहने ही चाहिए। अस्पृश्यता धार्मिक हलचल है वह कोने-कोनेमे पहुचनी चाहिए। गाधीजी देशभरमे घूम लिये—इतना ही काफी नही। हजारो उस कामको अपने कधोपर ले ले। व्याख्यान नही, आहुति दीजिए।

गावोकी जनता महादेव है—वह स्वयभू महादेव है। वह गावो हीमे रहेगा यदि तुम इस महादेवके पूजक हो तो तुम्हे उसके पास जाना चाहिए। बीस-बीस गाव ले लिये और लगातार घूमनेकी धूम मचा दी। भक्तसे जब भगवान् लक्ष्मीनारायणके मदिरकी एक हजार प्रदक्षिणा करनेके लिए कहा जाता है तब उसमे भक्तको कुछ अनुचित नही मालूम होता। तो, फिर जनता-रूप महादेवके पूजनम भी भक्तका वह उत्साह क्यो न होना चाहिए ? देवताकी एक प्रदक्षिणा करके भक्त एक बार देवताका दर्शन करता है और फिर दूसरी बार प्रदक्षिणाके लिए चल देता है। फिर दर्शन, फिर प्रदक्षिणा, यही उसका क्रम होता है। जनसेवकोको भी चौदह दिनोमे चौदह गाव घूमने चाहिए। पद्रहवे दिन प्रधान केन्द्रमे अपनी जानकारी देनी चाहिए। और फिर दक्ष होकर प्रदक्षिणापथमे लगना चाहिए। भक्त जब प्रत्येक परिक्रमामे प्रभु-मूर्तिकी ओर देखता है, तब उसके हृदयपर मूर्ति खिचती जाती है, हृदयपर जमती जाती है; उसका 'स्वरूप' ध्यानमे आता जाता है। स्वरूप ध्यानमे आते ही यह समझमे आता है, कि इस देवताकी भक्तिका पथ क्या है, पूजाकी सामग्री क्या है। उस समय यदि मै भक्त होऊ तो देवतासे एकरूप हो जाता हू। मेरा हृदय

देवताके हृदयसे मिल जाता है। तभी देवताकी कृपा होती है, उसका अनुग्रह होता है।

लोक-सेवा हमारी मूर्ति-पूजा है। ५-२५ गावोंका सग्रह हमारा महामंदिर है। गावोमे क्या-क्या है, उसकी हम फेहरिस्त बना ले, मनपर भी, कागजपर भी। फेहरिस्त हम जन-सेवकोको दे दे, वे देवताका स्वरूप समझ ले। जान ले, वह दिगबर हो गया है, धूल लिपट रही है, सिरसे पानी बहता है, केवल बैल ही उसके पास सम्पत्ति रह गई है और जगलका निवास। जन-सेवक जान ले कि देवताका स्वरूप क्या है, चेहरा कैसा है, भाव कौन-से है, उसकी रुचि और अरुचिकी वस्तुए क्या है और उसका नैवेद्य क्या हो गया है और उसपर कौन-से पुष्प चढते है। परिचय हुए विना पूजा न बनेगी। ऐसा न करनेपर शिवपर तुलसी होगी, विष्णु-पर बेल-पत्र! देव-पूजामे जल्दबाजी नही चलती। तुम्हे शीघ्रता हो, पर देवता-को जल्दी नही पडी। वह शातिका अवतार है। उसपर इकट्ठा घड़ा उडेलनेमे काम नही चलेगा, उसे तो बिदु-बिदुकी चाह है। एकदम उडेलनेकी अपेक्षा वह तो सतत धार जारी रखनेसे ही प्रसन्न होता है।

(ह० से०, ६ अप्रैल १९३४)

८—मृत्युरूपी वरदान

सचमुच मृत्यु ईश्वरकी ही देन है। जब हमारे निकटतम नातेदार, मित्र, कोई भी हमे दु खोसे नही बचा पाते, तब वही छुटकारा देती है। मृत्युमें जो दु ख माना जाता है, वह वास्तवमे जीवनका दु ख है। रोगादिकसे होनेवाला दु ख मृत्युका नही जीवनके असयमका फल है। मृत्यु तो उनसे हमे छुटकारा दिलानेवाली है। मृत्युका उनसे सबध नही है।

अत मृत्युके सिर व्यर्थ मढे जानेवाले इस शारीरिक दु खको बाद दे दिया जाय तो और दो दु ख बाकी बच जाते है। एक पूर्व-पापोकी स्मृतिसे होनेवाला दूसरा निकटस्थ जनोके विछोहकी आसक्तिसे होनेवाला। पहलेके लिए मृत्यु कैसे जवाबदेह है? वह जीवनके पापोका फल है। दूसरा मोहका है। यदि हमारा प्रेम सच्चा हो और सेवाकी तडपन हो, तो देह त्यागनेपर हम मित्रोसे दूर नही जानेके, बल्कि निकट पहुचेगे—ठेठ उनके भीतर प्रवेश पायेगे। देहका परदा

मौजूद रहते, किसी तरह भी हम इतने अदर नही जा सकते। फिर कितनी ही गहरी सेवा हो वह ऊपरी ही होती है। देहका पर्दा दूर हो जाने से अब हम दूसरेकी अतरात्मामे घुलमिलकर उसकी सेवा कर सकते है। पर सेवा करनी हो तवकी यह बात है। अर्थात् इसके लिए निष्कामता चाहिए।

और एक दु ख बाकी बच जाता है। पर वह मृत्युका नही हमारे अज्ञानका है। मृत्युके बाद क्या होगा कौन जाने ? हमारे मनकी सद्भावनाके विरुद्ध मृत्युके बाद कुछ होनेवाली नही है और कुवासना ही हो, तो जो कुछ बुरा होगा, वह उस कुवासनाका ही फल होगा—यदि ऐसी श्रद्धा, ईश्वरकी न्यायबुद्धिपर, हो तो वह काल्पनिक भय टल जायगा।

साराश, कुल दु ख चार है—

(१) शरीर-वेदनात्मक, (२) पापस्मरणात्मक, (३) सुहृन्मोहात्मक, (४) भावी चितात्मक, और उनके चार ही उपाय है क्रमानुसार—

(१) नित्यसयम, (२) धर्माचरण, (३) निष्कामता, (४) ईश्वरमे श्रद्धा।

मृत्युका निरतर स्मरण रखना, बुद्धिमे मरण-मीमासा द्वारा नि शकता लाना और रोज रातको सोनेसे पहले मरणाभ्यास करना, यह तिहेरी साधना करते रहना चाहिए। पहला गीताके १३वे अध्यायमे ज्ञान-लक्षणमे वर्णित है। उसपर ज्ञानदेवकी व्याख्या सुस्पष्ट है। दूसरा दूसरे अध्यायके शुरूमे ही है। तीसरा आठवे अध्यायमे है।

(सर्वोदय १९४१)

९—नैष्ठिक ब्रह्मचर्य

मनुष्यजीवन अनुभवका शास्त्र है। उस अनुभवकी बदौलत मनुष्य-समाजका काफी विकास हुआ है। किंतु हिंदू-धर्ममे उस अनुभवका शास्त्र रचकर एक विशिष्ट साधना जारी की, जिसे ब्रह्मचर्य कहते है। अन्य धर्मोमे भी सयम तो है ही, पर उसे शास्त्रीय रूप देकर हिंदू-धर्मने जिस प्रकार उसके लिए शब्द बनाया वैसा शब्द अन्यत्र नही पाया जाता। छोटा रहते वृक्षको अच्छी-से-अच्छी खादकी जरूरत होती है। यो तो पोषण जन्मभर चाहिए, पर कम-से-कम बचपनमे तो वह सबको मिलना ही चाहिए। इस दृष्टिसे हिंदू-धर्मने ब्रह्मचर्य-आश्रमको खडा

किया । पर आज मैं उस आश्रमके सबधमे नही, ब्रह्मचर्य-वस्तुके सबधमे कहनेवाला हू । अपने अनुभवसे मेरा यह मत स्थिर हुआ है कि यदि आजीवन ब्रह्मचर्य रखना है तो ब्रह्मचर्यकी कल्पना अभावात्मक (Negative) नही होनी चाहिए। विषय सेवन मत करो, कहना अभावात्मक आज्ञा है; इससे काम नही बनता। सब इद्रियोकी शक्तिको आत्मामे खर्च करो, ऐसी भावात्मक (Positive) आज्ञाकी आवश्यकता है । ब्रह्मचर्यके सबधमे, यह मत करो, इतना कहकर काम नही बनता । यह करो, कहना चाहिए । ब्रह्म अर्थात् कोई भी बृहत् कल्पना। कोई मनुष्य अपने बच्चेकी सेवा उसे परमात्म-स्वरूप समझकर करता है, और यह इच्छा रखता है कि उसका लडका सत्पुरुष निकले, तो वह पुत्र ही उसका ब्रह्म हो जाता है । उस बच्चेके निमित्तसे उसका ब्रह्मचर्य पालन आसान होगा । माता बच्चेके लिए रात-दिन कष्ट सहती है फिर भी अनुभव करती है कि उसने बच्चेके लिए कुछ न किया । कारण, बच्चेपर उसका जो प्रेम है उसकी तुलनामे वह जो कष्ट उठाती है वह उसे बहुत अल्प मालूम होता है । उसी प्रकार ब्रह्मचारी मनुष्यका जीवन तपसे—सयमसे—ओत-प्रोत रहता है । पर उसके सामने रहनेवाली विशाल कल्पनाके हिसाबसे सारा सयम उसे अल्प ही जान पडता है । इद्रिय-निग्रह मै करता हू ऐसा कर्तरि प्रयोग न रहकर इंद्रिय-निग्रह किया जाता है, यह कर्मणि प्रयोग बच जाता है । हिदुस्तानकी दीन जनताकी सेवाको ध्येय बनानेवालेके लिए वह सेवा उसका ब्रह्म है । उसके लिए वह जो करेगा वह ब्रह्मचर्य है । सक्षेपमे कहना हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालनेवालेकी आखोके सामने कोई विशाल कल्पना होनी चाहिए तभी ब्रह्मचर्य आसान होता है । ब्रह्मचर्यको मै विशाल ध्येयवाद और तदर्थ सयमाचरण कहता हू । यह ब्रह्मचर्यके सबधमे मैने मुख्य वस्तु बतलाई । दूसरी एक बात कहनेको बच जाती है, वह यह कि जीवनकी छोटी-छोटी बातोमे भी नियमनकी आवश्यकता होती है । खाना, पीना, बोलना, बैठना, सोना इत्यादि सब विषयोमे नियमन चाहिए। मनचाही चाल चले और इद्रिय-निग्रह साधे यह आशा व्यर्थ है । घडेमें तनिक-सा छेद हो तो भी वह बेकार हो जाता है । उसी प्रकार जीवनमे छिद्र नही होना चाहिए ।

(ग्राम-सेवा-वृत्त ४-८)

१०—सूत्र-मनन और पुराण-श्रवण

कागज नपा हुआ मिलता है। एक ही ओर लिखना रहता है, छपे हुए हाशियेसे बाहर जाना नही है। हर कागजका सिरा—तिहाईसे भी ज्यादा—जेलकी मुहर ले लेती है। इतनी मर्यादामे रहकर पूरे समाचार लिखनेकी दो युक्तिया है—(१) सूक्ष्माक्षर और (२) स्वल्पाक्षर। पहलीके लिए तेज नजर और कजूस दिल चाहिए। यहा दोनोका अभाव है। तब बाकी रही दूसरी युक्ति, उससे खूब काम लिया जा सकता है। स्वल्पतम कहिए कम-से-कम, अर्थात् शून्याक्षरोमेंसे अनत अर्थ दिया जा सकता है। मै यह सदा ही करता हू। पर बहुतोके लक्ष्यमे यह नही आता। वे कहते है कि मै कुछ भी लिखता-लिखाता नही हू। मै कहता हू कि मै अनत लिखता हू, शिकायत करनेवाले लोग समझते कैसे नही है ?

स्वल्पतमको जाने दीजिए। पर स्वल्पाक्षरोमे अपार अर्थ भरनेके कुछ उदाहरण साहित्यमे है। इनमे भगवद्गीता सर्वपरिचित उदाहरण है। गीतामे भी बहुत विस्तार ऐसा है कि जो सक्षिप्त हो सकता है। पर गीता तो गीता ही जो ठहरी। गीतमे गानेवालेके पसदके आलाप और ठेका बार-बार आना ही ठहरा। लेकिन योग-सूत्रोका उदाहरण इस सबधमे आदर्श कहा जा सकता है। कुल १९५ सूत्रोमे चित्त-वृत्ति-निरोधका सपूर्ण शास्त्र कह डाला गया है। इतने अल्पाक्षरोमे पतजलिने अपना सारा जीवन भर दिया। बाईस सौ वर्षोसे यह छोटा मणि-दीप अपने मूल्यके तेजमे ज्यो-का-त्यो प्रदीप्त है।

इससे विपरीत, पुराणोकी वृत्ति है। उस कहावतके अनुसार कि "खोदा पहाड, निकली चुहिया" पुराणोका चितन विहित नही है, उसका श्रवण विहित है। अर्थात् सिर्फ सुनने-सुननेसे काम है। याद रखनेकी जिम्मेदारी नही। उलटे, जितना भुला सके उतना खुशीसे और जरूर भुला दे। इतनेपर भी कुछ सस्कार मनपर रह ही जायेगे। वही उसका काम है। बहुजन-समाजको, कोई कष्ट दिये विना, सस्कार पहुचानेके लिए पुराणोका जन्म है। इन दिनो मै खाडण (रुई निकियानेका एक प्रकार) करते-करते समाजवादका श्रवण करता हू। सर्व-सामान्य समाजवादी-साहित्यकी शैली पुराणसे मिलती-जुलती है। भारवत्ता

और स्वल्पसाधन, पुनरुक्तिकी अपार शक्ति और समाज-सेवाकी उतनी ही तड-फडाहट समाजवादी साहित्यकी यही विशेषता है। इस सबधमे सस्कृतके पुराण ही उसकी समता कर सकते हैं। समाजवादी साहित्यके इस गुणके कारण बुद्धिपर विना कोई जोर पडे समाजवादका मुझे ज्ञान मिलता रहता है। और खाडण निर्बाध—बेखटके चलता रहता है।

(ग्राम-सेवा-वृत्तसे)

११—ग्राम-सेवा-शास्त्रकी एक कलम

देहातोकी सेवाके शास्त्रका दिन-पर-दिन चितन कर रहा हू। कई बाते निश्चित हो चुकी हैं; कई अभी होनी बाकी हैं। देहातोकी सेवाके शास्त्रकी एक कलम (धारा) निश्चित है—"कम-से-कम आठ घटे शरीर-परिश्रम और वह भी आजकी परिस्थितिमे राष्ट्रीय जीवनमे पडे हुए गड्ढेको पाटनेके लिए।" और कलमे इसी तरह निश्चित हो रही हैं। एक-एकपर ही अमल करना शुरू कर देंगे, तो निर्णय हो जायगा।

शरीर-परिश्रमके फल-स्वरूप जडता पैदा होनका डर मुझे नही है। विचारोकी भाफ जब अदर-ही-अदर बद रहती है, तो चितनके लिए यथेष्ट अवकाश मिलता रहनेके कारण उलटे तीव्रता बढती है, ऐसा अनुभव हो रहा है। अगर योगपूर्वक काम किया जाय, तो शरीर कमजोर होनेका कोई सबब नही है। बल्कि बलवान् होनके लिए यथेष्ट कारण है। आठ घटे काम करनेपर भी चार-पाच घटे अवातर सेवाके लिए बाकी रहते हैं। आठ घटेका शरीर-परिश्रम एक बडी भारी सेवा साबित होती है। वक्तृत्व उतना वाग्पटु नही है, जितना कि उदाहरण है। और अगर वक्तृत्वकी सहायताकी जरूरत ही रहती हो, तो ठीक उसी तरह रहती है जैसे कि एकके अकको शून्यकी होती है। उतनी मदद ली जा सकती है।

हिंदुस्तानका आजका सबसे मुख्य रोग है आलस। उसे महारोग भी कह सकते है। इसकी रामबाण औषध है उद्योगी मनुष्यका जीता-जागता उदाहरण और सगति। हम निरतर उद्योग करते रहकर, उसे व्यवस्थित हिसाबी वृत्तिसे सफल

वनाकर, अपनी कृति और सगतिसे और साथ-साथ समझा-बुझाकर उस रोगका निवारण कर सकते है।

इसलिए (१) उद्योग चाहिए, (२) वह निरतर चाहिए, (३) वह हमारे जीवनमे घुल-मिल जाना चाहिए, (४) उसीपर हमारे जीवनका आधार होना चाहिए, (५) सारे बाहरी आधारका त्याग करना चाहिए, (६) उद्योग व्यवस्थित चाहिए, और (७) उसकी सफलता सिद्ध होनी चाहिए।

जवतक इतनी बाते नही होगी, तबतक देहाती जनतामे हमारे कार्यका प्रवेश नही होगा, चाहे हमारे शरीरका भले ही हो।

लोक-सग्रह या सेवाकी गलत, मोहक और त्वरित कल्पनाके चक्करमे पडकर नाना उद्योग अथवा व्यवसाय अथवा ढोग या रग-ढग खडे करनेसे एक क्षणके लिए लोगोंकी भीड लगी हुई दीख पडेगी। लेकिन वह कार्यकारी नही होगी।

(ग्राम-सेवा-वृत्त मार्च १९४१)

१२—गांवका आरोग्य

उस दिन पवनारका एक लडका मुझे रास्तेमे मिला। बोला, "मुझे खुजली हो गई है, कोई उपाय बताइए ?" मैने उसे थोडेमे वतला दिया, रोज सबेरे गायका ताजा मट्ठा पीये जाओ, इससे तुम्हारा रोग जाता रहेगा। गावके मेरे सारे अनुभवका यह निचोड है कि गायका ताजा मट्ठा गावके लिए एक भारी तारक (तारनेवाला) तत्त्व है। इसके लिए मैने एक सस्कृत सूत्र वनाया है—तक्र तारकम्—

गावमे खाज-खुजली, दाद इत्यादि चर्म रोग छोटे वच्चोसे लगाकर बूढोतक सबको दिखाई देते है। मुझे इसके जो कारण जान पडे, वे उपाय सहित बतलाता हू—

(१) **गदी रहन-सहन**—और उसमे भी नहानेकी लापरवाही। रोज न नहानेवाले भी है। लेकिन जो रोज नहानेवाले है उनका भी नहाना 'नहाना' नही कहला सकता। नहाना तो पूरा नही होता, अलवत्ता 'भीगे कान और हुए असनान'की कहावत पूरी होती है। सारे वदनको रगडकर नहानेकी कौन कहे, पूरा वदन गीलातक नही करते। इसके लिए घरमे पर्देदार नहानेकी जगह चाहिए जहा नगे होकर नहानेकी आदत और रिवाज डालना सिखाया जाना चाहिए।

गुप्त अंगोंको अच्छी तरह मलकर धोना चाहिए। यह सार्वत्रिक शिक्षणका विषय है।

(२) **पीनेका साफ पानी**—खासकर नदी किनारेके गावोमे और उसमें भी बरसातके दिनोंमे लोग जो पानी पीते है वह बहुत ही गदा होता है। इसका साधारणसे साधारण उपाय पानीको औटाकर पीना है। हरिजन बस्तियोमे तो स्वच्छ पानी नसीब ही नही होता। हरिजनोके पानीका सवाल बिलकुल सामान्य भूतदयाका सवाल है। ऐसे मामूली सवालकी ओरसे जो समाज आखे मूदता है वह स्वराज्यके लायक कैसे समझा जा सकेगा।

(३) **भोजनकी कमी और भूलें**—इस शीर्षकमे तीन मुख्य दोष आते है इन्हे मै गावके आहारके त्रिदोष कहा करता हू—

(अ) भोजनमे भूल कहिये सडी-घुनी चीजोका उपयोग। गावमे मास औ मछली जो मोल लेकर खाई जाती है, वह बहुत करके 'सडी' ही कहनी चाहिए गावोमे मजदूरोको जो अनाज मिलता है वह प्राय घुना और रद्दी मिलता है देहातके महाजनोको इस ओर ध्यान देना चाहिए।

(आ) गावके आहारमे जो एक जबरदस्त कमी है, वह है रोजके भोजनमे तरकारीका अभाव। तरकारीके महत्त्वपर ज्यादा लिखनेकी जरूरत नही है क्योकि उसकी जरूरत तयशुदा चीज हो गई है। किसानोकी खुराकमें किसी-किसी मौसममे तो तरकारीका नाम भी नही होता। कहनेवाले तो नाजसे चौगुनी तरकारी खानेकी बाततक पहुचते है। मै यह नही कहूगा। उलटे मै तो मानता हू कि तरकारीकी मिकदार साधारणत कम ही ठीक है, तथापि हर रोज आदमी पीछे दस तोला तरकारी तो किसानके भोजनमे जरूर ही होनी चाहिए।

(इ) भोजनमे दूसरी कमी है गायके मट्ठेकी, जिसका जिक्र लेखके शुरूमें ही किया गया है। रोजकी खुराकमे कुछ-न-कुछ पाचक अम्लतत्त्व होना जरूरी है। गायका ताजा मट्ठा, यह थोडी कोशिशसे सबको रोज मिल सकने लायक उत्तम अम्ल है। इसके सिवा दूधका सारा ओज (प्रोटीन) मट्ठेमे है। खनिज-लवण भी उसमे भरपूर है। अगर कम-से-कम पावभर मट्ठा किसानको रोज मिल जाय तो वह कई रोगोसे बचा रह सकता है।

थोडी मेहनत करनेपर इतना-सा मट्ठा मिलना मुश्किल नही है। पर मिलेगा तभी, जब उसके लिए मेहनत की जायगी। (ग्राम-सेवा-वृत्तांत)

१३—गंभीर अध्ययन

अध्ययनमे लबाई-चौडाई महत्त्वकी चीज नही है, महत्त्व है गभीरताका। बहुत देर तक घटोके घटे और भाति-भातिके विषयोका अध्ययन करते रहनेको मै लबा-चौडा अध्ययन कहता हू। समाधिस्थ होकर नित्य-निरतर थोडी देर किसी निश्चित विषयके अध्ययनको मै गभीर अध्ययन कहता हू। १०-१२ घटे सोना, पर करवटे बदलते रहना या सपने देखते रहना—ऐसी नीदसे विश्राति नही मिलती। बल्कि ५ ही ६ घटे सोवे किंतु निद्रा गाढ हो तो इतनी नीदसे पूर्ण विश्राति मिल सकती है। यही बात अध्ययनकी है। समाधि अध्ययनका मुख्य तत्त्व है।

समाधि-युक्त गभीर अध्ययनके बिना ज्ञान नही। लबा-चौडा अध्ययन बहुत कुछ फालतू ही होता है, उसमे शक्तिका अपव्यय होता है। अनेक विषयो पर गाडी भर पढाई पढते रहनेसे कुछ हाथ नही लगता। अध्ययनसे प्रज्ञा, बुद्धि स्वतत्र और प्रतिभावान होनी चाहिए। प्रतिभाके माने है बुद्धिमे नए-नए कोपले फूटते रहना। नई कल्पना, नया उत्साह, नई खोज, नई स्फूर्ति ये सब प्रतिभाके लक्षण है। लबी-चौडी पढाईके नीचे यह प्रतिभा दबकर मर जाती है।

वर्तमान जीवनमे आवश्यक कर्म-योगका स्थान रखकर ही सारा अध्ययन करना चाहिए। अन्यथा भविष्य जीवनकी आशामे वर्तमान कालमे मरने जैसा प्रकार बन जाता है। शरीरकी स्थितिपर कितना विश्वास किया जाता है यह प्रत्येकके अनुभवमे आनेवाली बात है। भगवानकी हम सब पर अपार कृपा ही समझनी चाहिए कि हममे वह कुछ-न-कुछ कमी रख ही देता है। वह चाहता है कि यह कमी जानकर हम जागृत रहे।

दो बिंदुओसे रेखाका निश्चय होता है। जीवनका मार्ग भी दो बिंदुओसे ही निश्चित होता है। हम है कहा यह पहला बिंदु, हमे जाना कहा है यह दूसरा बिंदु। इन दोनो बिंदुओका तै कर लेना जीवनकी दिशा तै कर लेना है। इस दिशापर लक्ष रखे बिना इधर-उधर भटकते रहनेसे रास्ता तै नही हो पाता।

साराश, 'अल्प मात्रा सातत्य, समाधि, परमावकाश और निश्चित दिशा' यह गभीर अध्ययनका सूत्र है।

(ग्राम-सेवा-वृत्त से)

१४—निसर्ग-सेवनकी दृष्टि
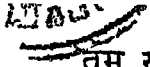
तुम सब आजकल निसर्गकी उपासनाका आनद ले रहे हो। हवाखोरीकी कल्पना निसर्गके पूरे-पूरे फायदे हासिल करने नही देती। इसलिए केवल उतनी ही कल्पना न रखते हुए उसके साथ-साथ दूसरी भी व्यापक कल्पना की जाय तो ऐसे स्थान हरि-दर्शन करा सकेंगे। पहाड़, नदी आदि स्थानोंमे शिमला, महाबलेश्वर इत्यादि विलास-स्थानका निर्माण करनेमे ईश्वरका अत्यन्त अपमान है। हमारे पूर्वज इस प्रकार अपमान नही करते थे। इसलिए निसर्ग देवताकी कृपासे उन्हे आध्यात्मिक लाभ होता था।

वैदिक ऋषि, उपनिषद्, गीता, योगशास्त्र, सन्तोके अनुभव इन सबमे एकात-सेवन और निसर्ग-परिचयके अनेकविध लाभोका वर्णन है। मनुष्य-समाजके अति प्राचीन ग्रथसे एक वचन यहा उद्धृत कर रहा हू।

'उपव्हरे गिरीणाम्। सगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।'—ऋग्वेद

इस मत्रका ऋषि 'वत्स काण्व' है। छन्द गायत्री। देवता इद्र। इद्र याने परमात्मा। उसीको इस मत्रमे 'विप्र' याने 'ज्ञानी' कहा है। वह कहा और कैसे प्रकट हुआ ('अजायत'—जन्म लिया, प्रकट हुआ) यह इस मन्त्रमे कहा है। "पर्वतो की कदराओमें और नदियोके सगमपर ध्यान-चितनसे ('धिया') ज्ञानीका जन्म हुआ।"

ज्ञानी पुरुषका जन्म किस स्थानपर हुआ और वहा क्या करनेसे हुआ, ये दोनो बाते इस मत्रमे है।

(ग्राम-सेवा-वृत्त)

१५—अतिथिको देव क्यों मानें?

जिन-जिनका हमपर उपकार है उन-उनके विषयमे देव-भावना रखकर उनकी सेवा करना और उनके ऋणसे चाहे थोडा ही क्यो न हो, मुक्त होना हमारा धर्म है। मातृ-देव, पितृ-देव और आचार्य-देव, ये तीन देव मानने की बात तो आसानीमें समझमे आ जाती है। इनके हमपर बडे उपकार है। उसी प्रकार समाजका भी हमपर बडा एहसान है। हम समाजकी अनत प्रकारकी सेवा लेते ही रहते

है। इसलिए समाजको देवता मानकर बदलेमे उसकी सेवा करना हमारा धर्म हो जाता है। हमे अपने घर आनेवाले अतिथिको समाजका एक प्रतिनिधि समझना चाहिए। अतिथिके रूपमे समाज हमसे सेवा माग रहा है, हमारी यह भावना होनी चाहिए। समाज केवल अव्यक्त है—अत 'अतिथि-देव'का अर्थ है 'समाज-देवता'। समाज अव्यक्त है, अतिथि व्यक्त है। समाजकी अतिथि व्यक्त मूर्ति है। अतिथिकी भाति दीन, दु खी, पीडित, रोगी इत्यादिकी सेवा करना भी समाज-पूजाका एक अग है। दरिद्रनारायण भी एक महान् देवता है। उनका हमपर वह उपकार है जिसका कभी बदला नही चुकाया जा सकता।

(गाम-सेवा-वृत्त)

१६—भगवान दीनबंधु हैं

प्रभुको चिता सबकी रहती है, पर विशेष चिता उसे दीनोकी होती है। और लोग प्रभुके भी है, पर दीन प्रभुके ही है। औरोका आधार भी और होता है, किंतु दीनोका तो आधार दीनदयाल ही होता है। समुद्रके बीच जहाजके मस्तूलसे उडे हुए पछीको मस्तूलके सिवा और ठिकाना कहा हो सकता है ? उससे हटकर वह कहा रह सकता है ? दीनका चित्त प्रभुसे छूटे भी तो किससे लगे ? इसलिए दीन प्रभुके कहलाते है, प्रभु दीनोका कहलाता है। दीनताका यही वैभव देखकर कुतीने उस समय जब उसे प्रभुने वर मागनेको कहा, दीनता मागी। कोई कह सकता है, कि प्रभु तो देता था कटोरीमे, पर अभागिनीने मागा दोने मे ! फूटी कटोरीसे साबित दोना सौ दर्जे अच्छा।

कदाचित् कोई तार्किक बीचमे ही पूछ बैठे कि, तो फूटी कटोरीकी बात क्यो ? मै स्पष्ट कहूगा कि नही, पानी पीनेकी दृष्टिसे तो साबित दोने और साबित कटोरीका मूल्य समान है, पर अदर पैठकर देखे तो वह धातकी कटोरी घातकी वस्तु बन जाती है। कटोरीकी छातीमे एक बडी धुकधुकी लगी रहती है—'मुझे कोई चुरा तो नही ले जायगा ? दोनेके लिए यह भय असभव है, अत वह निर्भय है।'

फिर कटोरी और साबितका योग ही मुश्किलसे मिलता है। रामदासके शब्दोमे, जो बडा सो चोर। ऐसे उदाहरण बहुत थोडे है, कि आदमी बडा हो और उसपर प्रभु न्यौछावर हो। लगभग ऐसे उदाहरणोका अभाव ही है, और जो

[illegible] दीख पडे, तो ऐसे कि जन्मका वडा, किंतु वडप्पन खोकर—अत्यत दीन [illegible] —भगवानके शरण पडा हुआ। उसी दिन प्रभुने उसे अपने निकट खीच लिया। राजा वलिने जव राजत्वका साज हटाकर मस्तक झुकाया, तव प्रभुने उसके आगन मे खडे रहना अगीकार किया। गजेद्रको जवतक अपने वलका घमड रहा, तवतक उसने सब कुछ करके देख लिया और जव गर्व गला तव उसे दीनवधुकी याद आई। उसी दिनकी कथाका नाम तो 'गजेद्र-मोक्ष' है। और अर्जुन ? जिस दिन वह अपनी जानकारीके ज्वारसे जीवित बाहर आया उस प्रभुने उसके सम्मुख गीता वाची। पार्थका—प्रभुसे ही मत-भेद हो गया। वडा आदमी जो ठहरा ! प्रभुके मतसे उसके मतका सौतियाडाह क्यो न हो ? किंतु बारह वर्षके वनवासने उसे 'महत्ता'से उतारकर 'सतता'की सेवा करनेका अवसर दिया। जव जानकारीपर अधिष्ठित मतके पाव डगमगाने लगे तो उसने निकटस्थ प्रभुके पाव पकडे। "मै तो इद्रियोंका गुलाम हू। और मेरा 'मत' क्या ? मेरी तो इद्रिया चाहे जैसा निश्चय करती है और मन मल्ल उसपर अपनी सही कर देता है। वहा धर्मको देख सकनेवाली दृष्टिका गुजर कहा ? प्यारे, मै तुम्हारे द्वारका सेवक हू। मुझे तुम्ही वचाओ।" तव भगवान्‌की वाचा फूटी—गीता कही जाने लगी। परतु गीता कहते-कहते भी श्रीकृष्णने एक वात तो कह ही डाली—"वडप्पनकी वात तो खूव करते हो।" गरज यह, कि वडे लोगोमे यदि किसीके, प्रभुके प्यारे होनेकी, वात सुनी जाती है, तो वह उसीकी, जो अपना वडप्पन, अपनी महत्ता एक ओर रखकर छोटे-से-छोटा, दीन, निराधार वन गया। तव वह प्रभुका आत्मीय कहलाया। जिसे जगतका आधार है, उसकी जगदाधारसे कैसी रिश्तेदारी ? जिसके खातेमे जगतका आधार जमा नही रह गया, उसीका वोझ प्रभु अपने कधोपर ढोते है।

(ह० से०, १९३४)